भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321 - 5704

(वर्ष-3, अंक-3, सितम्बर, 2015)

संरक्षक

कुलपति, प्रो. आर.पी. तिवारी

परामर्शदाता

कुलसचिव, प्रो. जनक आही

सम्पादक मण्डल

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

प्रो. चंदा बैन

डॉ. नवीन कानगो

श्री संतोष सोहगौरा

डॉ. अमरेन्द्र त्रिपाठी

डॉ. बबलू राय

सम्पादक

डॉ. छबिल कुमार मेहेर

सहायक सम्पादक

अभिषेक सक्सेना

राजभाषा प्रकोष्ठ

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश) - 470003

दूरभाष : (07582) 265828

ई-मेल : hindicell@dhsgsu.ac.in

भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका
ISSN 2321 – 5704
वर्ष 3, अंक 3
सितम्बर, 2015

© *सर्वाधिकार सुरक्षित*

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :
हिन्दी अधिकारी, राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)–470003

दूरभाष : (07582) 265828
ई-मेल : hindicell@dhsgsu.ac.in

मूल्य : निःशुल्क आन्तरिक वितरण हेतु

'भाषा भारती' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

शब्द संयोजन
विनोद रजक

मुद्रण
अमन प्रकाशन, नमक मण्डी कटरा बाजार,
सागर(म.प्र.)
मो. 9826434225

कर्मवीर, संत वैज्ञानिक
डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम
की स्मृति को...

प्रो. आर.पी. तिवारी
कुलपति
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)—470003

संदेश

विश्वविद्यालय के 'राजभाषा प्रकोष्ठ' द्वारा प्रकाशित राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका 'भाषा भारती' के तीसरे अंक के प्रकाशन के अवसर पर मुझे आपसे रूबरू होते हुए अपार प्रसन्नता हो रही है। यह पत्रिका विश्वविद्यालय के अधिकारियों, कर्मचारियों की सृजनशीलता, रचनाधर्मिता तथा लेखन-क्षमता की परिचायक है, साथ ही आपसी विचारों का आदान-प्रदान करने का एक सशक्त माध्यम भी।

भारतवर्ष की भाषायी स्थिति और उसमें हिन्दी के स्थान को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी हमारी संपर्क-भाषा है; अनेकता में एकता की कड़ी है। अन्य भाषाओं की तुलना में हिन्दी सीखना और उसे व्यवहार में लाना आसान है। इसके अलावा हिन्दी भाषा की दूसरी विशेषता है : 'लोकोन्मुखता एवं लचीलापन'। लोक-भाषा की विशेषताओं से युक्त एवं लचीली होने के कारण हिन्दी दूसरी भाषाओं के शब्दों, वाक्यों और बोलचाल के आग्रहों को सहज ही स्वीकार करने में सक्षम है। हिन्दी में आज विभिन्न भारतीय भाषाओं का साहित्य लाया जा चुका है। विश्व की महान् कृतियाँ हिन्दी में अनूदित होकर जन-जन तक पहुँच रही हैं। इस प्रकार भारत की भाषायी विविधता एवं सामासिक संस्कृति को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ विश्व साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में हिन्दी निश्चय ही अहम भूमिका निभा रही है।

हिन्दी हमारे चिंतन, हमारे सपनों तथा हमारे व्यवहार की भाषा के साथ-साथ हमारी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय स्वायत्तता की रक्षा की भाषा बनकर हमें ताकत देती है। इसलिए हमारी जिम्मेदारी यह है कि हमें ताकत देने वाली हिन्दी के विकास में हम भी अपना सर्वोत्तम योगदान दें।

इन्हीं आकांक्षाओं और अभिलाषाओं के साथ ढेर सारी शुभकामनाएँ।

रा०प्र० तिवारी

27 अगस्त, 2015

(प्रो. आर.पी. तिवारी)

प्रो. जनक आही
कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)—470003

संदेश

भारत सरकार की राजभाषा नीति के अंतर्गत प्रेरणा और प्रोत्साहन के जरिए सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रगामी प्रयोग सुनिश्चित करने के प्रावधान किए गए हैं। 'भाषा भारती' का प्रकाशन भी इस कड़ी में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुए लगभग 65 वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच राजभाषा ने कई उतार-चढ़ाव देखे हैं तथा आज हिन्दी राजभाषा सुखद पड़ाव पर है। हमारा विश्वविद्यालय हिन्दी भाषी क्षेत्र 'क' में स्थित है साथ ही राजभाषा अधिनियम 1972 की धारा 10(4) के अंतर्गत अधिसूचित भी है अर्थात हमारे विश्वविद्यालय के 80 प्रतिशत कर्मचारी हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान रखते हैं। हमारा यह दायित्व है कि हम अपना शत-प्रतिशत कार्यालयीन कार्य हिन्दी में करें।

राजभाषा प्रकोष्ठ द्वारा प्रकाशित विश्वविद्यालय की वार्षिक गृह राजभाषा पत्रिका 'भाषा भारती' का प्रकाशन विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से एक महत्त्वपूर्ण कदम है। 'भाषा भारती' के पिछले दो अंकों के सफल प्रकाशन से विश्वविद्यालय के कार्मिकों के बीच निःसन्देह हिन्दी में कार्य करने के प्रति अभिरुचि विकसित हुई है। आशा और विश्वास है कि पत्रिका का यह तीसरा अंक भी पूर्व के अंकों की ही भाँति सुरुचिपूर्ण एवं सफल होगा।

पत्रिका के सफल प्रकाशन की मंगलकामनाओं के साथ पत्रिका के प्रकाशन से जुड़े सभी अधिकारियों और कर्मचारियों को बधाई एवं शुभकामनाएँ।

28 अगस्त, 2015

जनक आही
28/8/15
(प्रो. जनक आही)

सम्पादकीय-

कलाम : ज्योतिर्मय प्रज्ञा-पुरुष

''मेरी कहानी मेरे साथ खत्म हो जाएगी क्योंकि मेरे पास कोई पूँजी नहीं हैं। मैंने कुछ हासिल नहीं किया...जमा नहीं किया। मेरे पास कुछ नहीं...और कोई नहीं, न बेटा, न बेटी, न परिवार। मैं दूसरों के लिए मिसाल नहीं बनना चाहता।... ...मेरे परदादा अवुल, मेरे दादा पकीर, मेरे वालिद जैनुलआब्दीन का खानदानी सिलसिला अब्दुल कलाम पर खत्म हो जाएगा। लेकिन खुदा की रहमत कभी खत्म नहीं होगी।'' –गुलजार, 'कलाम की जीवनी' से

पूर्व राष्ट्रपति, मिसाइलमैन, दूरद्रष्टा डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम (1931-2015) के निधन से सारा देश स्तब्ध है। वे भारत के अकेले राष्ट्रपति थे जिन्हें देश की जनता दिलो-जान से चाहती थी; बच्चों से लेकर बूढ़ों तक, शिक्षक से लेकर अधिकारी तक, नेता से लेकर छात्रों तक। इतना ही नहीं हर धर्म, हर सम्प्रदाय, हर जाति के लोग उन्हें चाहते थे, उनसे प्रेरणा लेते थे। वे तो सब के दिलों में बसते थे। यह किसी धर्मनिरपेक्ष-गणतंत्र राष्ट्र के राष्ट्रपति के लिए मामूली बात नहीं। गैर-राजनीतिक व्यक्तित्व के बावजूद जितनी प्रसिद्धि उन्हें देश के प्रथम नागरिक के रूप में मिली, उतनी ख्याति एक सफल विज्ञानी, मिसाइलमैन के नाते उन्हें बहुत पहले ही मिल चुकी थी। उनकी मेधा, उनकी प्रज्ञा किसी पद प्रतिष्ठा की मुहताज नहीं। और यह भी कि उनका राष्ट्रपति बनना अनेकानेक इत्तफाकों का एक साथ घटित हो जाने का ही खूबसूरत अंजाम था। उनका सरल, निष्कपट हृदय, उनकी विनम्रता और स्पष्टवादिता को देख-पहचान कर भारत के नागरिकों ने उन्हें नए सिरे से परिभाषित किया– 'जनता के राष्ट्रपति'। इससे पूर्व शायद ही हमारे देश के किसी राष्ट्रपति को यह आत्मीय उपाधि मिली हो। सत्ता, पद, प्रतिष्ठा, पुरस्कार के लिए मरने-मारने वाले इस खतरनाक-खौफनाक समय में यह छोटा लेकिन प्यारा-सा सम्बोधन निश्चय ही छोटी उपलब्धि नहीं।

बहरहाल, जब हम उनके जीवन-संघर्ष को देखते हैं तो चौंक जाते हैं और साथ ही साथ सोचने के लिए विवश हो जाते हैं : 'अरे...क्या यह भी सम्भव है ...क्या मैं भी...।' फिर गहरे अन्तर्मन से ही स्पष्ट उत्तर हमें मिल जाता है : 'क्यों नहीं...मुझे निराश होने की बिल्कुल जरूरत नहीं।' और इस प्रकार एक सामान्य मुसलमान केवट के बेटे से देश के राष्ट्रपति तक का उनका संघर्षों से भरा सफर हम सबों के लिए रोमांच व प्रेरणा का विषय बन जाता है। इससे हममें एक नई उर्जा पैदा होती है, नया विश्वास जगता है। हम अपने आप को पहचानने लगते हैं और

मन ही मन दुहराते हैं : 'गर ठान लो तो असम्भव कुछ भी नहीं'। बस कलाम साहब की अनुभवसिद्ध सूक्ति को ध्यान में रखना होगा : 'सूरज की तरह चमकना चाहते हो तो पहले सूरज की तरह जलो!' ऐसा केवल कलाम ही कह सकते थे, और यह भी कि 'मेरी मृत्यु पर छुट्टी न करें, अगर मुझसे प्यार करते हैं तो उस दिन और ज्यादा काम करें।' वे कर्म को कितनी अहमियत देते थे उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है। मानो कर्म ही मनुष्य के आत्मविस्तार का और समस्त संसार से जुड़ने का एकमात्र माध्यम हो। एक सफल विज्ञानी जब यह कहता है कि 'मैं एक टीचर हूँ, मुझे टीचर के रूप में ही याद रखें' तो उनका लक्ष्य और साफ हो जाता है। सचमुच वे जीवन के अन्त तक टीचर ही बने रहे। संयोग देखिए कि उनका अन्तिम भाषण छात्रों को ही सम्बोधित था। वे जिस मकसद से राजनीति में आए थे, अपने कार्यकाल (2002-2007) में ही उसे पूरा कर लिया था, वरना इसके तुरन्त बाद अन्ना यूनिवर्सिटी में शिक्षक बन अपने सेवानिवृत्त जीवन को सार्थकता देने का संकल्प नहीं लेते। हालाँकि एक लोकप्रिय राष्ट्रपति, एक सफल विज्ञानी का यह निर्णय आज के समय में बहुतों को आश्चर्य में डाल सकता है। मगर कलाम देश की जरूरत को समझते थे। राष्ट्र की चिन्ता उनके लिए सर्वोपरि थी। वे अपने देश, अपनी धरती, अपने लोगों को बहुत चाहते थे... उनके भविष्य को लेकर सदैव चिन्तित रहते थे। उनकी यही चिन्ता उन्हें शायद कभी चैन की नींद सोने नहीं देती थी। उनका प्रसिद्ध कथन बरबस याद आता है : 'सपने वो नहीं, जो आप सोते वक्त देखते हैं, सपने वो होते हैं जो आपको सोने नहीं देते हैं!' उनकी जिन्दगी का फलसफा ही था कि कभी छोटा सपना मत देखो। उनके जीवन में एक ही चीज नहीं रही और वो थी 'आराम'। आराम को हाराम समझने वाले कलाम के जीवन में शौक के नाम पर कुछ था तो बस रुद्र वीणा का वादन। पाँच वक्त का नमाज अदा करने के साथ ही साथ संस्कृत श्लोकों का वाचन। पवित्र 'कुरान' के साथ-साथ 'गीता' का नियमित पठन-पाठन।... उन्होंने अपने घर को 'जीवन गैलरी' नाम दिया था और वहीं से उनके जीवन की अन्तिम यात्रा निकली।... बकौल गुलजार 'कलाम एक गहरा कुआँ थे इस जमीन पर।' तृषार्त जनता, बेशुमार लड़के-लड़कियों की प्यास बुझाने वाला कुआँ ...सबको तुष्ट करने वाला निर्झर।

बाकलम कलाम ज्ञान ही सफलता का आधार है। जीवन में 'लक' जैसा कुछ नहीं होता। सबकुछ मेहनत से है। व्यक्ति सफलता के पीछे भागता है लेकिन उसे ज्ञान के पीछे भागना चाहिए। ज्ञान के मिलने से सफलता अपने आप मिल जाएगी।... ...अलग ढंग से सोचने का दुस्साहस करो। आविष्कार का साहस करो। हमेशा असंभव को खोजने का साहस करो और जीतो। यह 'असम्भव को खोजना' स्वयं कलाम की सफलता का राज है। बतौर राष्ट्रपति देश के बहुत सारे संवेदनशील मामलों में प्रभावकारी हस्तक्षेप कर उन्होंने एक निरपेक्ष राजनयिक का परिचय दिया। अपने फैसलों को थोपने की बजाय वे हमेशा आम सहमति बनाने को प्राथमिकता देते थे। प्रतिकूल हालात में सकारात्मक हल ढूँढ लेना उनकी खूबी थी । चाहे वो पाकिस्तान के सैन्य गतिरोध वाला जटिल समय हो या गुजरात दंगे की त्रासदी। ऐसे और भी कई उदाहरण

हमारे समाने हैं जहाँ उनका हस्तक्षेप बहुत ही कारगर साबित हुआ। उनके हस्तक्षेप के बगैर अमेरिका के साथ परमाणु सौदा नहीं हो सकता था। लेकिन उन्होंने न तो अपनी उपलब्धियों का ढिंढोरा पीटा, न ही अपने आलोचकों के खिलाफ कुछ कहा। उनके पास जो नैतिक ताकत थी वह बहुत कम लोगों के पास होती है। ...अपनी आलोचना को भी वे सीख के रूप में, चुनौती के रूप में, मार्गदर्शन के रूप में ग्रहण करते थे। संकल्प, साफगोई और विनम्रता से लबरेज कलाम किसी भी बाधा से टकराने की हिम्मत रखते थे। भारत को परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र बनाने के साथ-साथ सन् 2020 तक भ्रष्टाचार मुक्त एक पूर्ण विकसित राष्ट्र बनाने के लिए वे संकल्पबद्ध थे।

कलाम सचमुच क्या थे? बकौल मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान 'भारतीय जीवन मूल्यों के मूर्तिमंत स्वरूप डॉ. कलाम एक ज्योतिर्मय प्रज्ञा-पुरुष थे।' एक आदर्श व्यक्तित्व, एक महान् वैज्ञानिक, एक सफल मिसाइलमैन, एक सुयोग्य राष्ट्रपति और एक सच्चे शिक्षक के रूप में भारत रत्न कलाम को सदैव याद किया जाएगा। उनके अन्तिम दर्शन के लिए लोग 4 कि.मी. लम्बी लाइन में चिलचिलाती धूप में घंटों खड़े रहे। भले ही वे अब सशरीर हमारे बीच नहीं, परन्तु उनका दिया हुआ ज्ञान, सशक्त मार्गदर्शन हमेशा हमारे साथ रहेगा। वैसे भी व्यक्ति कहाँ मरता है, मरता है तो बस उसका पार्थिव शरीर।

2

'भाषा भारती' के तीसरे अंक को आप सभी तक पहुँचाते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। इससे पूर्व प्रकाशित 'भाषा भारती' के दोनों अंकों की पाठकीय प्रतिक्रिया ने हमारे उत्साह व मनोबल को निरन्तर बढ़ाया। साथ ही आप सभी का जो स्नेह और सहकार मिला वह हमारे लिए गौरव और प्रेरणा का विषय रहा। आशा करता हूँ कि यह अंक भी आप लोगों कीअपेक्षाओं पर खरा उतरेगा। पूर्ण विश्वास है कि यह अंक भी हमारे शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों में राजभाषा हिन्दी के प्रति प्रेम का जादू बिखेरने में सक्षम होगा।

'भाषा भारती' को यथाशीघ्र प्रकाशित एवं प्रसारित करवाने की दिशा में निरन्तर प्रोत्साहित एवं प्रेरित करनेवाले विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति प्रो.आर. पी. तिवारी जी और कुलसचिव प्रो. जनक आही जी को पत्रिका प्रकाशन के शुभ अवसर पर मैं ससम्मान याद कर रहा हूँ।

'भाषा भारती' पर विश्वास कर अपने महत्त्वपूर्ण सृजन को इसमें शामिल करने की अनुमति देने वाले सभी विद्वज्जनों के प्रति भी हृदय से आभार। सम्पादक मण्डल के सदस्यगण, विश्वविद्यालय के शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों से जो भरपूर सहयोग मिला उसके लिए तहेदिल से शुक्रिया। उम्मीद है आगे भी आप सभी का सहयोग हमें मिलता रहेगा। पुनश्च पत्रिका से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े सभी विद्वज्जनों के प्रति कृतज्ञता। इति शुभम्।

—छबिल कुमार मेहेर

रक्षाबंधन
28 अगस्त, 2015

अनुक्रमणिका

कुलपति महोदय का संदेश
कुलसचिव महोदया का संदेश
सम्पादकीय - कलाम : ज्योतिर्मय प्रज्ञा-पुरुष

भाषा एवं चिंतन

हमारा देश और राष्ट्रभाषा 15
महादेवी वर्मा

हिन्दी-उर्दू का साहित्य और साझी विरासत का सपना 22
अमरेन्द्र त्रिपाठी

डॉ. राममनोहर लोहिया का भाषाई दृष्टिकोण 31
अशोक अहिरवार

ज़रूरी है हिन्दी का सम्मान 36
ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव

गोवा : भाषाई संरचना, पर्यटन और हिन्दी 40
राकेश शर्मा

अनुवाद

अनुवाद का समाजशास्त्र 45
सूर्यनारायण रणसुभे

रिल्के के पत्र पत्नी क्लैरा के नाम 57
अनुवाद—राजी सेठ

संस्मरण

विलियम शेक्सपियर वाया प्रो. स्वामीनाथन 62
कान्तिकुमार जैन

आचार्य की मौजूदगी 73
विजय बहादुर सिंह

कहानी

बेला महका रे महका... 86
आशुतोष

विमर्श

मीरा का काव्य : स्त्री स्वाधीनता और स्त्री चेतना का पर्याय 99
उर्मिला शिरीष

दलित कथा : उत्तर आधुनिक अर्थ-मीमांसा 105
हरपाल सिंह 'अरुष'

हिन्दी में दलित आत्मकथा लेखन के मायने 113
हिमांशु कुमार

भ्रष्टाचार निवारणार्थ कौटिल्य के विचार 120
राघवेन्द्र प्रताप सिंह

कविताएँ

ग़ज़ल 124
फिदा-उल-मुस्तफा फ़िदवी

दो कविताएँ 125
रमेश दवे

चिमनी 126
दिनेश अत्रि

दो कविताएँ 130
पंकज चतुर्वेदी

दो कविताएँ 131
नवीन कानगो

जीवन एक कोलाहल 132
सुधीर नागेश लिमये

चहुँ दिसि पूरब 133
प्रतिभा पाण्डेय

दानवीर गौर की महिमा 134
संतोष सोहगौरा

सिनेमा और संगीत

वृत्तचित्र : यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति 135
पंकज तिवारी

समीक्षा

विचार की संस्कृति और आचार्य रामचंद्र शुक्ल 139
विवेकानन्द उपाध्याय

अशोक वाजपेयी और उनका 'समय के पास समय' 147
अजय कुमार पटनायक

त्रासदी : एक मानवीय संचेतना का बिम्ब 153
संजय शर्मा

रिपोर्ट

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम 155
विनोद रजक

पाठकीय 158

●●●

हमारा देश और राष्ट्रभाषा

—महादेवी वर्मा

हमारा हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ देश, आकाश और आत्मा दोनों दृष्टियों से महान् और सुंदर है। उसका बाह्य सौंदर्य विविधता की सामंजस्यपूर्ण स्थिति है और आत्मा का सौंदर्य विविधता में छिपी हुई एकता की अनुभूति है।

चाहे कभी न गलने वाला हिम का प्राचीर हो, चाहे कभी न जमने वाला अतल समुद्र हो, चाहे किरणों की रेखाओं से खचित हरीतिमा हो, चाहे एकरस शून्यता ओढ़े हुए मरु हो, चाहे साँवले भरे मेघ हो, चाहे लपटों में साँस लेता हुआ बवंडर हो, सब अपनी भिन्नता में भी एक ही देवता के विग्रह को पूर्णता देते हैं। जैसे मूर्ति के एक अंग का टूट जाना संपूर्ण देव-विग्रह को खंडित कर देता है, वैसे ही हमारे देश की अखंडता के लिए विविधता की स्थिति है।

यदि इस भौगोलिक विविधता में व्याप्त सांस्कृतिक एकता न होती, तो यह विभिन्न नदी, पर्वत, वनों का संग्रह-मात्र रह जाता। परंतु इस महादेश की प्रतिभा ने इसकी अंतरात्मा को एक रसमयता में प्लावित करके इसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे यह आसमुद्र एक नाम की परिधि में बँध जाता है।

हर देश अपनी सीमा में विकास पाने वाले जीवन के साथ एक भौतिक इकाई है, जिससे वह समस्त विश्व की भौतिक और भौगोलिक इकाई से जुड़ा हुआ है। विकास की दृष्टि से उसकी दूसरी स्थिति आत्म-रक्षात्मक तथा व्यवस्थापरक राजनीतिक सत्ता में है। तीसरी सबसे गहरी तथा व्यापक स्थिति उसकी सांस्कृतिक गतिशीलता में है, जिससे वह अपने विशेष व्यक्तित्व की रक्षा और विकास करता हुआ विश्व-जीवन के विकास में योग देता है। यह सभी बाह्य और स्थूल तथा आंतरिक और सूक्ष्म स्थितियाँ एक दूसरी पर प्रभाव डालती और एक दूसरी से संयमित होती चलती हैं।

एक विशेष भू-खंड में रहने वाले मानव का प्रथम परिचय, संपर्क और संघर्ष अपने वातावरण से ही होता है और उससे प्राप्त जय, पराजय, समन्वय आदि से उसका कर्म-जगत् ही संचालित नहीं होता, प्रत्युत् अंतर्जगत् और मानसिक संस्कार भी प्रभावित होते हैं।

व्यवस्थापरक शासन, विधिनिषेधमयी आचार-नीति, दर्शन, साहित्य आदि एक अनंत विकास-क्रम में बँधकर ही एक विशेष भूमंडल में स्पंदित जीवन को विशेष व्यक्तित्व देते हैं। इस प्रकार राष्ट्र न केवल नदी, पर्वत, वन का समूह है, न शून्य में स्थिति रखनेवाले मानवों की भीड़ मात्र।

एक स्वस्थ मानव जैसे पार्थिव शरीर से सूक्ष्म चेतना तक और प्रत्यक्ष कर्म से अदृष्ट संकल्प-स्वप्न तक एक ही इकाई है, वैसे ही राष्ट्र भी विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपों और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियों का एक जीवित गतिशील विग्रह है।

परिस्थितियाँ क्षणजीवी होती हैं, परंतु उनके संस्कारों का जीवन अक्षय ही रहता है। किसी जाति या देश की राजनीतिक पराजय आकस्मिक हो सकती है; परंतु उसका सांस्कृतिक अवरोध उसकी जीवनी शक्ति के अवरुद्ध होने पर ही संभव है।

वैसे व्यापक अर्थ में मानव-संस्कृति एक ही है, क्योंकि मनुष्य के बुद्धि और हृदय का संस्कार-क्रम उसके जीवन के समान ही व्यापक और निश्चित है परंतु जैसे विकास की दृष्टि से वृक्ष एक होने पर भी उसकी आँधियों से लोहा लेने वाला तना, मंद वायु के सामने झुकने वाली शाखाएँ, चिर चंचल पल्लव और झरझर बरसने वाले फूल, सबका अपना-अपना विकास है, जैसे शरीर एक होने पर भी अंगों का गठन और विकास एक रूप नहीं होता, वैसे ही मानव-संस्कृति एक होकर भी अनेक रूपात्मक ही रहेगी। उसकी विविधता का नष्ट होना उसके व्यक्तित्व का पाषाणीकरण है।

हमारा देश अपने प्राकृतिक वैभव में जितना समृद्ध है, अपनी आंतरिक विभूतियों में उससे कम गुरु नहीं। उसकी मूलगत समानता, लक्ष्यगत एकता और इन दोनों को जोड़ने वाली प्रदेशगत विविधता की तुलना के लिए ऐसी नदी को खोजना होगा, जो एक हिमालय से निकल कर एक समुद्र में मिलने के पहले अनेक धाराओं में बिखर बँट कर प्रवाहित होती है। जैसे विभिन्न दूर पास के अंगों से रक्त का एक हृदय में आना और एक से पुनः अनेक में लौट जाना ही शरीर की संचालक शक्ति है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति बार-बार एक केंद्र बिंदु को छू कर दूर प्रसार की क्षमता पाती रही है।

रूपात्मक प्रकृति के प्रति हमारी रागात्मक दृष्टि, जीवन के प्रति हमारी आस्था, समाज, देश और विश्व के विषय में हमारी नैतिक मान्यताएँ तत्वतः एक रही हैं, इसी से हमारे साहित्य, कला, दर्शन आदि अपनी विविधता में भी एक ही हैं।

जहाँ तक भाषा का संबंध है, प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ध्वनि पर कंठ और कठ पर वातावरण का अनिवार्य प्रभाव एक भाषा में भी एकरूपता नहीं रहने देता। हमारे विशाल राष्ट्र में विविध भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है; परंतु किसी भी जीवित जाग्रत देश की भाषा की तुलना उन सिक्कों से नहीं की जा सकती, जो बाजार में क्रय-विक्रय के जड़ माध्यम मात्र हैं। वस्तुतः भाषा जीवन की अभिव्यक्ति भी है। सौरभ फूल का नाम और परिचय देता है; पर वह उसके विकास का व्यक्त रूप भी है, जो मिट्टी, धूप, पानी आदि के संयोग से प्राप्त होता है। विशेष भूभाग में रहने वाले मानव-समूह की भाषा उसके परस्पर व्यवहार का माध्यम होने के साथ-साथ इस समूह के जीवन, सुख-दुख, आकर्षण-विकर्षण, स्वप्न-आकांक्षा, यथार्थ-आदर्श, जय-पराजय आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है। अतः भाषा के साथ किसी जाति की

संस्कृति भी अविच्छिन्न संबंध में बँधी रहती है, क्योंकि उसके अभाव में भाषा के विकास की आवश्यकता नहीं रहती। यदि हमारी थोड़ी-सी स्थूल आवश्यकताएँ हैं, तो उन्हें व्यक्त करने के लिए इने-गिने शब्द-संकेत ही पर्याप्त होंगे।

किसी हाट में क्रय-विक्रय के कार्य के लिए आवश्यक शब्दों की संख्या अधिक नहीं होती परंतु जब हम अपने भाव-जगत् विचार-मंथन, सौंदर्यबोध आदि को आकार देने बैठते हैं, तब हमें ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पड़ती है, जो भाव के हर हल्के गहरे रंग को व्यक्त कर सके, बुद्धि की हर क्षणिक और स्थायी प्रक्रिया को नाम दे सके, सौंदर्य की हर सूक्ष्म स्थूल रेखा को औक सके। हम भाषा के अध्ययन से यह निर्णय कर सकते हैं कि उसे बोलनेवाली जाति सांस्कृतिक दृष्टि से विकास का कौन-सा प्रहर पार कर रही है। संस्कृति या समकृति कोई निर्मित वस्तु न होकर विकास का अनवरत क्रम है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म अपने पीछे विचार, चिंतन, संकल्प, भाव तथा अनुभूति की दीर्घ और अटूट परंपरा छिपाए रहता है, इसी से संस्कार-क्रम भी अव्यक्त और व्यक्त दोनों सीमाएँ छूता हुआ चलता है। भाषा संस्कृति का लेखा-जोखा रखती है, अतः वह भी अनेक संकेतों और व्यंजनाओं में ऐश्वर्यवती है।

हमारे देश ने आलोक और अंधकार के अनेक युग पार किए हैं। परंतु अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति वह एकांत सावधान रहा है। उसमें अनेक विचारधाराएँ समाहित हो गईं, अनेक मान्यताओं ने स्थान पाया; पर उसका व्यक्तित्व सार्वभौम होकर भी उसी का रहा।

उसके अंतर्गत आलोक ने उसकी वाणी के हर स्वर को उसी प्रकार उद्भासित कर दिया, जैसे आलोक हर तरंग पर प्रतिबिंबित होकर उसे आलोक की रेखा बना देता है। एक ही उत्स से जल पाने वाली नदियों के समान भारतीय भाषाओं के बाह्य और आंतरिक रूपों में उत्सगत विशेषताओं का सीमित हो जाना ही स्वाभाविक था। कूप अपने अस्तित्व में भिन्न हो सकते हैं, परंतु धरती के तल का जल तो एक ही रहेगा। इसी से हमारे चिंतन और भावजगत् में ऐसा कुछ नहीं है, जिसमें सब प्रदेशों के हृदय और बुद्धि का योगदान और समान अधिकार नहीं है।

आज हम एक स्वतंत्र राष्ट्र की स्थिति पा चुके हैं, राष्ट्र की अनिवार्य विशेषताओं में दो हमारे पास हैं, भौगोलिक अखंडता और सांस्कृतिक एकता; परंतु अब तक हम उस वाणी को प्राप्त नहीं कर सके हैं, जिसमें एक स्वतंत्र राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के निकट अपना परिचय देता है। जहाँ तक बहु भाषा-भाषी होने का प्रश्न है, ऐसे देशों की संख्या कम नहीं है जिनके भिन्न भागों में भिन्न भाषाओं की स्थिति है। पर उनकी अविच्छिन्न स्वतंत्रता की परंपरा ने उन्हें सम-विषम स्वरों से एक राग रच लेने की क्षमता दे दी है।

हमारे देश की कथा कुछ दूसरी है। हमारी परतंत्रता आँधी तूफान के समान नहीं आई, जिसका आकस्मिक संपर्क तीव्र अनुभूति से अस्तित्व को कंपित कर देता है। वह तो रोग के कीटाणु लाने वाले मंद समीर के समान साँस में समा कर शरीर में व्याप्त हो गई है। हमने अपने

संपूर्ण अस्तित्व से उसके भार को दुर्वह नहीं अनुभव किया और हमें यह ऐतिहासिक सत्य भी विस्मृत हो गया कि कोई भी विजेता विजित देश पर राजनीतिक प्रभुत्व पाकर ही संतुष्ट नहीं होता, क्योंकि सांस्कृतिक प्रभुत्व के बिना राजनीतिक विजय न पूर्ण है न स्थायी। घटनाएँ संस्कारों में चिर जीवन पाती हैं और संस्कार के अक्षय वाहक, शिक्षा, साहित्य, कला आदि हैं।

दीर्घकाल से विदेशी भाषा हमारे विचार-विनिमय और शिक्षा का माध्यम ही नहीं रही, वह हमारे विद्वान् और संस्कृत होने का प्रमाण भी मानी जाती रही है। ऐसी स्थिति में यदि हममें से अनेक उसके अभाव में जीवित रहने की कल्पना से सिहर उठते हैं, तो आश्चर्य की बात नहीं। पर रोग की स्थिति को स्थायी मान कर तो चिकित्सा संभव नहीं होती। राष्ट्र-जीवन की पूर्णता के लिए उसके मनोजगत् को मुक्त करना होगा और यह कार्य विशेष प्रयत्न साध्य है, क्योंकि शरीर को बाँधनेवाली शृंखला से आत्मा को जकड़नेवाली शृंखला अधिक दृढ़ होती है।

आज राष्ट्रभाषा की स्थिति के संबंध में विवाद नहीं हैय पर उसे प्रतिष्ठित करने के साधनों को लेकर ऐसी विवादैषणा जागी है कि साध्य ही दूर से दूर तक होता जा रहा है। विवाद जब तक की सीधी रेखा पर चलता है, तब लक्ष्य निकट आ जाता है; पर जब उसके मूल में आशंका, अविश्वास और अनिच्छा रहती है, तब कहीं न पहुँचना ही उसका लक्ष्य बन जाता है।

आधुनिक युग में जब विज्ञान ने समुद्रों और पर्वतों का अंतर दूर कर एक देश को दूसरे के पास पहुँचा दिया है, जब अणुबम की अंतक छाया में भी अमर मानवता जाग उठी है और जब ध्वंस की लपटों के नीचे भी निर्माण के अंकुर सिर उठा रहे हैं, तब हम अपने मनों की दूरी बढ़ा कर, संदेह के प्राचीर खड़े कर और विरोध के स्वरों में बोल कर अपनी महान परंपराओं की अवज्ञा ही करेंगे।

एक सुंदर स्वप्न अनेक सुंदर स्वप्नों में समा कर जीवन को विराट् सौंदर्य देता है, एक शिव संकल्प अनेक शिव संकल्पों में लीन होकर मनुष्य को विशाल शिवता देता है, एक निष्ठामय कर्म अनेक निष्ठामय कर्मों से मिल कर विश्व को अक्षय गति देता है। इसके विपरीत एक दुर्भाव अनेक दुर्भावनाओं में मिल कर जीवन को विरूप कर देता है, एक अविश्वास अनेक अविश्वासों के साथ मनुष्य को असत्य कर देता है और एक आघात अनेक आघातों को पंक्तिबद्ध कर मनुष्यता को क्षत-विक्षत कर देता है।

हम जीवन को सौंदर्य और गति देने वाली प्रवृत्तियों के साथ रह कर जिन प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे, वे स्वयं उत्तर बन जाएँगे।

जहाँ तक हिंदी का प्रश्न है, वह अनेक प्रादेशिक भाषाओं की सहोदरा और एक विस्तृत विविधता भरे प्रदेश में अनेक देशज बोलियों के साथ पल कर बड़ी हुई है। अवधी, बृज, भोजपुरी, मगही, बुंदेली, बघेलखंडी आदि उसकी धूल में खेलनेवाली चिर सहचरियाँ हैं। इनके साथ कछार और खेतों, मचान और झोपड़ियों, निर्जन और जनपदों में घूमघूम कर उसने उजले आँसू और रंगीन हँसी का संबल पाया है।

साधकों ने अपने कमंडल के पूत जल से इसे पवित्र बनाया है। साम्राज्यवाद का स्वर्ण मुकुट न इसकी धूल-धूसरित उन्मुक्त अलकों को बाँध सका है, न बाँध सकेगा। दीपक की लौ पर सोने का खोल क्या उसे बुझा नहीं देगा !

जब राजतंत्र के युग में भी वह द्वार-द्वार पर समानता का अलख जगाती रही, तब आज जनतंत्र के युग में उसके लिए प्रसाद की कल्पना उसकी मुक्त आत्मा के लिए कारागार की रचना ही कही जाएगी।

हिंदी के प्रादेशिक और भारतीय रूप भी चर्चा के विषय बन रहे हैं। यह प्रश्न बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसे एक हृदय के साथ दो शरीरों की परिकल्पना।

हिंदी की विशेषता उसकी मुक्ति में रही है, इसका प्रमाण उसके शब्दकोष में मिल सकेगा। उसने देशज बोलियों तथा देशी-विदेशी भाषाओं से शब्द ग्रहण करने में न कभी संकीर्णता दिखाई और न उन्हें अपना बनाने में दुविधा का अनुभव किया। परंतु विकसित परिमार्जित और साहित्यवती भाषा का कोई सर्वमान्य रूप या मानदंड न हो, ऐसा संभव नहीं होता।

आज हिंदी में साहित्य सृजन करने वालों में कोई बिहार का मगही भाषी है, कोई मथुरा का ब्रजभाषी। परंतु बुंदेलखंडी बोलनेवाले राष्ट्रकवि मैथिलीशरण, वैसवाड़ी बोलनेवाले कविवर निराला और कुमाऊँनी बोलनेवाले श्री सुमित्रनंदन जी क्या समान रूप से हिंदी के वरद पुत्र नहीं कहे जाते! यदि हिंदी को बिहारी हिंदी, अवधी हिंदी, बुंदेली हिंदी नहीं बनाया जा सकता है, तो इसका कारण हिंदी का वह संश्लिष्ट रूप और मूलगत गठन है, जिसके बिना कोई भाषा महत्व नहीं पाती।

अंग्रेजी भाषा-भाषी विश्व भर में फैले हैं, उनमें देशज संस्कार भी हैं, परंतु इससे अंग्रेजी का न सर्वमान्य गठन खंडित होता है और न उसे नए नामकरणों की आवश्यकता होती है। विश्व की सभी महत्वपूर्ण भाषाओं के संबंध में यह सत्य है। परिवर्तन भाषा के विकास का परिचय है; पर परिवर्तन में अंतर्निहित एक तारतम्यता उसके जीवन का प्रमाण है। शिशु से वृद्ध होने तक शरीर न जाने कितने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिवर्तनों का क्रम पार करता है; परंतु उसकी मूलगत एकता अक्षुण्य रहकर उसे एक संज्ञा से घेरे रहती है। भाषा केवल संकेत-लिपि नहीं है, प्रत्युत् उसके हर शब्द के पीछे संकेतित वस्तु स्पंदित रहती है और प्रत्येक शब्द का एक सजीव इतिहास होता है। अतः एक जीवित भाषा का जीवन के साथ ही विकसित और परिमार्जित होते चलना स्वाभाविक है।

भाषा भी गढ़ी जाती है, परंतु वह कुंभकार का घट निर्माण नहीं, मिट्टी का अंकुर-निर्माण है। जिस प्रकार मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों को नए लक्ष्य से जोड़ कर हम उसके अप्रत्यक्ष, आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण कर सकते हैं, इसी प्रकार भाषा की नैसर्गिक वृत्तियों से नए

भाव, नई वस्तु, नए विचार जोड़ कर हम उसे नए रूपों से समृद्ध करते रहते हैं। हिंदी का प्राकृत से ब्रज-अवधी तथा उनसे खड़ी बोली तक आने का क्रम जितना आश्चर्यजनक है, उतना ही अनायास, क्योंकि जिस लोकहृदय के साथ यह विकसित हुई, उससे इसका धरती और बीज का सा संबंध था, जिसमें एक दे कर पाता है और दूसरा पाकर देता है।

हिंदी अपना भविष्य किसी से दान में नहीं चाहती। वह तो उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए। जिस नियम से नदी नदी की गति रोकने के लिए शिला नहीं बन सकती, उसी नियम से हिंदी भी किसी सहयोगिनी का पथ अवरुद्ध नहीं कर सकती ।

यह आकस्मिक संयोग न होकर भारतीय आत्मा की सहज चेतना ही है, जिसके कारण हिंदी के भावी कर्त्तव्य को जिन्होंने पहले पहचाना वे हिंदी भाषा भाषी नहीं थे। राजा राममोहन राय से महात्मा गांधी तक प्रत्येक सुधारक, साहित्यकार, धर्म-संस्थापक, साधक और चिंतक हिंदी के जिस उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता आ रहा है, उसे नतशिर स्वीकार कर लेने पर ही हिंदी लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाएगी, क्योंकि स्वीकृति मात्र न गति है न गंतव्य। वस्तुतः संपूर्ण भारत संघ को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए उसे दोहरे संबल की आवश्यकता है। एक तो आंतरिक जो मन के द्वारों को उन्मुक्त कर सके और दूसरा बाह्य जो आकार को सबल और परिचित बना सके। अन्य प्रदेशों के लोकहृदय के लिए तो वह अपरिचित नहीं है, क्योंकि दीर्घकाल से वह संत-साधकों की मर्मबानी बन कर ही नहीं, हाट बाजार की व्यवहार बोली के रूप में भी देश का कोना-कोना घूम चुकी है।

यदि आज उसे अन्य प्रदेशों से अविश्वास मिले, तो उसका वर्तमान खंडित और अतीत मिथ्या हो जाएगा।

उसकी लिपि का स्वरूप भी मतभेदों का केंद्र बना हुआ है। सुदूर अतीत की ब्राह्मी से नागरी लिपि तक आते-आते उसके बाह्य रूप को समय के प्रवाह ने इतना माँजा और खरादा है कि उसे किसी बड़ी शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। नाम मात्र के परिवर्तन से ही वह आधुनिक युग के मुद्रण-लेखन यंत्रों के साथ अपनी संगति बैठा लेगी; परंतु तत्संबंधी विवादों ने उसका पथ प्रशस्त न करके उसके नैसर्गिक सौष्ठव को भी कुंठित कर दिया है। यदि चीनी जैसी चित्रमयी दुरुह लिपि अपने राष्ट्र-जीवन का संदेश वहन करने में समर्थ है, तो हमारी लिपि के मार्ग की बाधाएँ दुर्लघ्य कैसे मानी जा सकती हैं।

स्वतंत्रता ने हमें राजनीतिक मुक्ति देकर भी न मानसिक मुक्ति दी है और न हमारी दृष्टि को नया क्षितिज। हमारा शासन-तंत्र और उसके संचालक भी उसके अपवाद नहीं हो सकते; परंतु हमारे पथ की सबसे बड़ी बाधा यह है कि हमारी स्वतंत्र कार्य-क्षमता राज्यमुखापेक्षी होती जा रही है। पर अंधकार आलोक का त्योहार भी तो होता है। दीपक की लौ के हृदय में पैठ सके ऐसा कोई बाण अँधेरे के तूणीर में नहीं होता। यदि हमारी आत्मा में विश्वास की निष्कंप लौ है, तो मार्ग उज्ज्वल रहेगा ही।

भाषा की सीखना उसके साहित्य को जानना है, और साहित्य को जानना मानव-एकता की स्वानुभूति है। हम जब साहित्य के स्वर में बोलते हैं, तब वे स्वर दुस्तर, समुद्रों पर सेतु बाँध कर, दुर्लंघ्य पर्वतों को राजपथ बनाकर मनुष्य की सुख-दुःख-कथा मनुष्य तक अनायास पहुँचा देते हैं।

अस्त्रों की छाया में चलने वाले अभियान निष्फल हुए हैं, चक्रवर्तियों के राजनीतिक स्वप्न टूटे हैं; पर मानव-एकता के पथ पर पड़ा कोई चरण-चिह्न अब तक नहीं मिटा है। मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का कोई स्वप्न अब तक भंग नहीं हुआ है।

भारत के लोक-हृदय और चेतना ने अनंत युगों में जो मातृमूर्ति गढ़ी है, वह अथर्व के पृथ्वीसूक्त से वंदेमातरम् तक एक, अखंड और अक्षत रही है। उस पर कोई खरोंच, हमारे अपने अस्तित्व पर चोट है।

हिंदी केवल कंठ का व्यायाम न होकर हृदय की प्रेरणा बन सके तभी उसका संदेश सार्थक हो सकेगा। हम माता से जो क्षीर पाते हैं, वह उसके पार्थिव शरीर का रसमात्र न होकर आत्मा का दान भी होता है। इसी से वह हमारे शरीर का रसमात्र बन कर निःशेष नहीं हो जाता, वरन् आत्मा से मिलकर अनंत स्वप्न-संकल्पों में फूलता-फलता रहता है।

हिंदी के धरातल पर संत रविदास और भक्त सूरदास पग मिला कर चले हैं और निर्गुणवादी कबीर और सगुणवादी तुलसी कंधा मिला कर खड़े हुए हैं।

जहाँ सम्प्रदायों की कठिन सीमाएँ भी तरल होकर गल गई, उसी भूमि पर भेद की कल्पित दीवारें कैसे ठहर सकेंगी !

साभार : महादेवी संचयिता

हिन्दी-उर्दू का साहित्य और साझी विरासत का सपना

—*अमरेन्द्र त्रिपाठी*

हिन्दी प्रदेश की भाषिक संरचना विशिष्ट है; हिन्दी, उर्दू और जनपदीय भाषाओं के आपसी रिश्ते और अंग्रेजी का वर्चस्व इसे जटिल भी बना देता है। यह दुनिया का संभवतः अकेला इलाका है जिसमें पिछले हजार वर्षों से प्रशासन की भाषा और आमजन की भाषा में सायास और स्पष्ट अलगाव रहा है। यह इस मामले में भी खास है कि समान भाषिक परंपरा और एक व्याकरणिक संरचना के बावजूद केवल लिपिगत विभेद, साहित्यिक रूपों में अलगाव और राजनैतिक साजिश के कारण हिन्दी और उर्दू नामक दो भाषाएँ आज के उत्तर-आधुनिक दौर में भी अपना अलग अस्तित्व बनाये हुए हैं। जिस धार्मिक विभेद के आधार पर हिन्दी और उर्दू का अलगाव निर्मित किया गया है, दुनिया में कहीं भी वह भाषाओं के अलगाव का आधार नहीं है; बल्कि भाषाएँ धार्मिक कटुता और भिन्नता की खाई को भरने में मददगार होती हैं। जातीय एकता को निर्मित करने वाला सर्वाधिक प्रभावी तत्त्व भाषा है, लेकिन हिन्दी प्रदेश में जिस भाषा को इस एकता की निर्मिति का आधार बताया जाता है उसके दो साहित्यिक रूप सदियों से विद्यमान हैं। रामविलास शर्मा जब 'हिन्दी जाति' के निर्माण पर बात करते हैं तो इसी वजह से उर्दू को स्वतंत्र भाषा न मान हिन्दी की एक शैली मानने पर जोर देते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी 'सम्पूर्ण उर्दू साहित्य को ग्रहण करके हिन्दी को वैचित्र्य-युक्त समृद्ध भाषा' बनाने की बात तो करते हैं लेकिन उर्दू की 'आत्मकेंद्रित प्रवृति', सत्ताधारी वर्ग से उसके लम्बे साथ और जनता से पर्याप्त दूर रहने के कारण इसे अपनाने से परहेज करते हैं। वे उर्दू साहित्य को हिन्दी प्रदेश की तमाम जनपदीय भाषाओं और उसके साहित्य के साथ निकट संबंध बनाने पर जोर देते हैं। शिवदान सिंह चौहान ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में तमाम जनपदीय भाषाओं के साहित्य के साथ-साथ उर्दू भाषा के साहित्य को भी शामिल कर हिन्दी का वृहत्त इतिहास लिखने की जोरदार वकालत की थी लेकिन उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया गया। हाल के वर्षों में बच्चन सिंह ने अपने इतिहास ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में इस ओर एक सकारात्मक कदम उठाया है लेकिन उसमें हिन्दी साहित्य की तुलना में उर्दू साहित्य को कम जगह दी गयी है। उन्होंने उर्दू के केवल उन्हीं कवियों को अपनी रचना में शामिल किया है जिसमें 'हिन्दी' की ओर थोड़ा झुकाव है। तब इस परिप्रेक्ष्य में हिन्दी-उर्दू की साझी विरासत पर बात करना एक बेहद उलझे और मुश्किल सवाल से रू-बरू होना है।

अब यह लगभग स्थापित सत्य है कि उत्तर भारत की भाषाओं के लिए हिन्दी, हिन्दवी या हिन्दुवी शब्दों का आरंभिक प्रयोग मुसलमानों ने ही किया। ईरान के प्रसिद्ध बादशाह नौशेरवाँ (531-579) ने जब 'पंचतंत्र' का अनुवाद कराया तो भूमिका में 'पंचतंत्र' की भाषा को 'जबाने हिन्दी' कहा। मिनहाजुस्खि की किताब 'हबकाते नासिरी'(1227) में पालि या अपभ्रंश के संबंध में 'जबाने हिन्दी' शब्द का प्रयोग किया गया है। इब्नबतूता ने अपनी पुस्तक 'रेहला इब्नबतूता' (1333) में हिन्द में रहने वालों की भाषा को 'जबाने हिन्दी' कहा, जो संभवतः हिन्दी प्रदेश की किसी जनपदीय भाषा के लिए किया गया प्रयोग था। 'हिन्दवी' शब्द का पहला प्रयोग अबू सईद के फ़ारसी इतिहास (1049) में और फ़िर बाद में अमीर खुसरो (1253-1325) की एक काव्य-पंक्ति ('तुर्क हिन्दुस्तानियम मन हिन्दवी गोयम जवाब') में मिलता है। दक्खनी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि वजही ने अपनी गद्य रचना 'सबरस' (1636) में अपनी जबान को हिन्दी कहा- 'हिन्दोस्तान में, हिन्दी जबान सूँ इस लताफ़त, इस छन्दा सूँ नज्म हौर नसर मिलाकर गुलाकर यूँ नयीं बोल'। सूफ़ी कवियों में जायसी (1464-1542) ने अपनी भाषा अवधी के लिए 'हिन्दुई' और नूरमोहम्मद ने 'हिन्दी' शब्दों का प्रयोग किया। नूरमोहम्मद की काव्यपंक्ति 'हिन्दू मग पर पाँव न राखौं/का जो बहुतै हिन्दी भाखौं' से पहली बार इस बात का स्पष्ट अहसास होता है कि मध्यकाल में भी मुस्लिम लेखकों और विचारकों के मन में यह बात थी कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है। तब भी अठारहवीं सदी के अंत तक मुस्लिम लेखकों द्वारा फ़ारसी लिपि में अरबी-फ़ारसी की परंपरा के प्रभाव में लिखी जा रही हिन्दी के लिए कोई अलग नाम नहीं था। भाषा के अर्थ में उर्दू का पहला प्रयोग 'मुसहफ़ी' ने इस शेर में किया- 'खुदा रक्खे जबाँ हमने सुनी है मीर-ओ-मीरजा की/कहें किस मुँह से हम ऐ मुसहफ़ी! 'उर्दू' हमारी है।' मुसहफ़ी की मौत 1824 ई. में हुई थी। मतलब साफ़ है कि अठारहवीं सदी के उतरार्द्ध से पहले खड़ी बोली के आधार पर विकसित हो रही भाषा के लिए अलग-अलग नाम नहीं थे। अंग्रेज जब पहली बार इस इलाके में आये तो उन्होंने इस भाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग किया, लेकिन आगे चलकर उन्होंने इसमें बदलाव किया। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज का वार्षिक विवरण प्रस्तुत करते हुए कैप्टन टेलर नाम के अंग्रेज ने सन 1812 में पहली बार हिन्दी और उर्दू का धर्म के आधार पर स्पष्ट विभाजन किया। उसने लिखा कि ''मैं केवल हिन्दुस्तानी या रेख्ता का जिक्र कर रहा हूँ, जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है, मैं हिन्दी का जिक्र नहीं कर रहा, जिसकी अपनी लिपि है। जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग नहीं होता और मुसलमानी आक्रमण से पहले जो भारत वर्ष के समस्त उत्तरी-पश्चिम प्रांत की भाषा थी।''[1]

यह अकाट्य सत्य है कि भाषा के स्तर पर हिन्दी और उर्दू में अलगाव और विवाद की शुरूआत सन 1801 में 'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना के साथ हुई। इसके अध्यापक गिलक्राइस्ट ने योजनाबद्ध तरीके से इस महाविद्यालय में हिन्दी और उर्दू के लिए अलग-अलग विभागों की स्थापना की और उसमें नियुक्त शिक्षकों को शब्दों के चयन के लिए स्पष्ट निर्देश दिये। 'प्रेमसागर' के लेखक लल्लूलाल ने उन्हीं के निर्देश पर उर्दू को 'यामिनी भाषा' कहा। उर्दू

भाषा एवं साहित्य की विद्वान लेखिका डेनियेला ब्रेडी ने इस ऐतिहासिक साजिश को महज एक प्रशासनिक असफ़लता बताते हुए एक लेख में लिखा है कि ''यह सब १९वीं शती के मध्य में ब्रिटिश शिक्षा नीतियों का परिणाम था, जिससे दो प्रवृत्तियाँ सामने आयीं: पहला, नागरी लिपि का समर्थन एवं संस्कृत से जोड़ना और दूसरा, अरबी-फ़ारसी लिपि को वरीयता। अरबी-फ़ारसी लिपि शहरी व अभिजात मुस्लिम वर्ग, कामगारों व कायस्थों से जुड़ी थी, जबकि दूसरी तरफ़ देवनागरी लिपि उच्च हिन्दू जातियों के बीच अधिक प्रचलित थी। अरबी-फ़ारसी लिपि के प्रयोक्ताओं को औपनिवेशिक शासन में उच्च स्थान प्राप्त था। 1879 में प्रशासन की ओर से एक अध्यादेश जारी हुआ, जिसमें दस रुपये से अधिक माहवारी वाली नौकरियों के लिए अरबी-फ़ारसी जानना अनिवार्य कर दिया गया। नागरी लिपि के प्रयोक्ताओं ने पढ़े-लिखे लोगों को संगठित किया, जिनकी विनष्ट आकांक्षाओं (?) के फ़लस्वरूप हिन्दी के लिए एक आन्दोलनात्मक शुरूआत हुई। उन्हें मैकडोनाल्ड के 1900 ई. के अध्यादेश के रूप में एक महत्त्वपूर्ण सफ़लता प्राप्त हुई जिसमें नागरी लिपि की अनुशंसा की गयी थी, किन्तु दुर्भाग्यवश (?) जनरल ने वाइस गवर्नर के प्रस्ताव में संशोधन कर दिया और कार्यालयी शब्दावली में इसे 'फ़ारसी व नागरी लिपि' की बजाय 'हिन्दी व उर्दू भाषा' कर दिया। इससे भाषाई फ़ाँक गहरी हो गयी और यह कटु भाषाई संघर्ष के प्रतीक की तरह बन गया।[2]

विद्वान लेखिका ब्रेडी को नागरी लिपि के प्रयोक्ताओं का संगठित होना उनकी 'विनष्ट आकांक्षा' का परिणाम प्रतीत होता है और जनरल द्वारा वाइस गवर्नर के प्रस्ताव में 'फ़ारसी व नागरी लिपि' की जगह बदलकर 'हिन्दी व उर्दू भाषा' कर देना महज 'दुर्भाग्यवश' घटी एक घटना, लेकिन यह महज दुर्भाग्य न होकर हिन्दुओं और मुसलमानों को बाँटने की एक गहरी साजिश थी। भारत की भाषाओं के गहरे अध्ययन के बाद अंग्रेजों ने यह महसूस किया कि हिन्दी प्रदेश ही वह इलाका है जहाँ हिन्दू और मुसलमान भाषा के स्तर पर अलग-थलग हैं। भारत का अन्य कोई इलाका ऐसा नहीं था/है, जहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा अलग-अलग हो। पंजाब का मुसलमान पंजाबी बोलता है और बंगाल का मुसलमान बंगाली। बोलचाल के स्तर पर विभेद हिन्दी प्रदेश में भी नहीं था। अंतर दो स्तरों पर था- लिपि और साहित्यिक परंपरा के स्तर पर। साहित्यिक परंपरा में भी बहुत कुछ आदान-प्रदान हो रहा था, फ़िर भी अलगाव था। लेकिन इस अलगाव का आधार धार्मिक न होकर साहित्यिक था। हिन्दी के कवि संस्कृत की काव्य परंपरा से प्रभावित थे और उर्दू के कवि अरबी-फ़ारसी की काव्य परंपरा से। यह विभेद भी व्यक्तिगत चुनाव कम वक्त की नजाकत ज्यादा थी। सन् 1700 में जब वली दिल्ली आये और उर्दू कविता का बीजारोपण किया तब मुगलिया सल्तनत ढलान पर पहुँच चुका था। छोटे-छोटे दरबार अस्तित्व में आने लगे थे। मुस्लिम सामंत पुराने ताकतवर बादशाहों की नकल पर अरबी-फ़ारसी के कवियों को प्रश्रय देने लगे थे तो हिन्दू राजा अपने सौन्दर्यबोध के लिए संस्कृत की काव्य परंपरा की ओर उन्मुख थे। यह अलगाव भी हिन्दू-मुस्लिम बोध से ज्यादा अपनी जड़ों की ओर जाने की प्रवृति और सामंती अहंकार का परिणाम था। हिन्दू और

मुस्लिम दरबारों में उन्हीं कवियों को ज्यादा सम्मान मिलता था जिसमें काव्यगत जटिलता ज्यादा रहती थी। इसी वजह से रीतिकाल के दरबारी कवियों में लक्षण-ग्रंथों की ओर झुकाव बढ़ा और उर्दू कवियों का अरबी-फ़ारसी की गजलों-नज्मों की ओर। दोनों भाषाओं में शब्द और भाव-बोध के स्तर पर अलगाव का कारण भी यही है। फ़िर भी यदि ध्यान से देखा जाय तो रीतिकाल के पूरे दौर में हिन्दी-उर्दू के वैसे शेर-नज्म और दोहों-कवित्तों को ज्यादा प्रसिद्धि मिली जो हिन्दी-जीवन के ज्यादा निकट और बोलचाल के शब्दों से निर्मित हुए थे। गालिब अपने पूर्ववर्तियों जौक, मोमिन और दाग के जिन शेरों पर कुर्बान थे उनकी भाषा इस तथ्य को स्वतः प्रमाणित करती है -

अब तो घबरा के कहते हैं कि मर जाएँगे।
मरके भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे। (जौक)

तुम मेरे पास होते हो गोया,
जब कोई दूसरा नहीं होता। (मोमिन)

रुखे-रोशन के आगे शमा रखकर वह यह कहते हैं,
उधर जाता है देखें या इधर परवाना आता है। (दाग)

स्वयं गालिब के लोकप्रिय शेर इसी सरल भाषा में लिखे गये हैं और तमाम धार्मिक दीवारों को तोड़ते हुए जन-जन के बीच लोकप्रिय हैं। जो लोग उर्दू को इस्लाम के अस्तित्व और उसके प्रचार की भाषा साबित करने पर उतावले हैं उनकी राह में गालिब और नजीर जैसे शायर बहुत बड़े रोड़े हैं। इस्लाम की मान्यताओं को बार-बार चुनौती देनेवाले गालिब यूँ ही उर्दू के सबसे लोकप्रिय शायर नहीं हैं। ठीक इसी तरह हिन्दी की समस्त काव्य परंपरा में मुस्लिम विद्वेष की एक भी पंक्ति खोजना बालू से तेल निकालने जैसा मुश्किल है। अंग्रेजों के आगमन के पहले तक हिन्दी और उर्दू के किसी भी प्रसिद्ध कवि की कविता में धार्मिक विद्वेष की भावना का जरा भी अंश नहीं मिलता। लेकिन उन्नीसवीं सदी के अंत तक आते-आते हिन्दी-उर्दू के कवियों में धार्मिक अस्मिता के प्रति झुकाव बढ़ने लगा, और उसके साथ-साथ एक दूसरे के प्रति विद्वेष भी। इसमें शासक होने की अहमन्यता और शासित होने के पीड़ा मिश्रित आक्रोश की बड़ी भूमिका थी। पर इस सबके मूल में थी अंग्रेजों की विभाजनपरक नीति, जो सन् 57 के प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान निर्मित हुई हिन्दू-मुस्लिम एकता को देखकर आक्रामक हो गयी थी। यह देखकर दुख होता है कि जिन आधारों पर हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषा साबित करने की कोशिश की गयी वे कितने बेबुनियाद थे, और यह बात और भी दिल को सालती है कि उसी आधार पर आज भी हम इन भाषाओं की साझा परंपरा के स्वीकार के प्रति अन्मयस्क और उसके नकार के लिए तत्पर हैं।

हिन्दी-उर्दू के अलगाव का पहला प्रमुख आधार लिपि थी। लिपि का सवाल मूलतः आधुनिक है, खासकर छापेखाने के आगमन के बाद। उसके पहले तो कविता मौखिक रूप में ही गतिशील रहती थी। वैसे भी लिपि और भाषा का स्थायी संबंध तो होता नहीं। यदि लिपि के कारण भाषाओं और उसके साहित्य में अलगाव होता तो कैथी में लिखने वाले विद्यापति, देवनागरी में लिखने वाले तुलसी और फ़ारसी में लिखने वाले जायसी हिन्दी साहित्य के रचनाकार कैसे होते? लिपि की भिन्नता न भाषा के अलगाव की वजह है और न ही साहित्य के अलगाव की। मराठी, बोड़ो और हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं, लेकिन तीनों अलग-अलग भाषाएँ हैं। आजकल हिन्दी सिनेमा का सारा कारोबार रोमन में होता है लेकिन उससे हिन्दी के विकास पर कोई फ़र्क नहीं पड़ रहा है। असल में, उन्नीसवीं सदी के मध्य में लिपि का मसला साहित्यिक अलगाव की जगह नौकरियों में भागीदारी का मुद्दा ज्यादा था। परंपरा से हिन्दू घरों में देवनागरी और मुस्लिम घरों में फ़ारसी लिपि पढ़ायी जाती थी। फ़ारसी लंबे समय से राजकाज की भाषा थी जिसका फ़ायदा मुसलमानों को स्वाभाविक रूप से मिलता था। वैसे भी प्रशासनिक कार्यों में फ़ारसी का प्रवेश किसी मुसलमान ने नहीं बल्कि अकबर के मंत्री टोडरमल ने किया था। एक सोची-समझी रणनीति के तहत सन 1835 में अंग्रेजों ने कचहरियों में देवनागरी लिपि को प्रवेश दे दिया, जिससे लम्बे समय से सत्ताधारी रहे मुसलमानों और उसके साथ-साथ हिन्दू कायस्थों को अपनी नौकरियों पर खतरा महसूस होने लगा। उन्होंने इसका प्रबल विरोध किया और अंग्रेजों ने एक वर्ष बाद ही अपना आदेश बदल दिया। इस बात ने हिन्दुओं के हृदय में विद्वेष का बीज बो दिया। हिन्दी-उर्दू के अलगाव और उसकी साझी विरासत के नकार की शुरूआत यहीं से हुई।

हिन्दी-उर्दू में अलगाव पैदा करने के लिए अंग्रेजों ने दूसरा मुद्दा शब्दों का उठाया। धीरे-धीरे यह बात दोनों भाषाओं के विचारकों की चेतना का हिस्सा हो गया। शब्द-चयन आम बोलचाल में अनायास होता है, जबकि साहित्य-कर्म में सायास। स्वाभाविक है कि यह बात भी अंग्रेज हिन्दी प्रदेश को नेतृत्व दे रहे बुद्धिजीवियों को ध्यान में रखकर निर्मित कर रहे थे। अपनी योजना में वे इस कदर सफ़ल हुए कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में 'प्रेमसागर' की भाषा के विषय में लिखा कि "इंशा के समान इन्होंने ठेठ हिन्दी लिखने का संकल्प तो नहीं किया था पर विदेशी शब्दों के न आने देने की प्रतिज्ञा अवश्य लक्षित होती है। यदि वे उर्दू न जानते होते तो अरबी-फ़ारसी के शब्द बचाने में उतने कृतकार्य कभी न होते जितने हुए। बहुतेरे अरबी-फ़ारसी के शब्द बोलचाल की भाषा में इतने मिल गए थे कि उन्हें केवल संस्कृत-हिन्दी जानने वाले के लिए पहचानना भी कठिन था।"[3] शुक्लजी के लिए बोलचाल में घुलमिल गये अरबी-फ़ारसी के शब्दों से हिन्दी भाषा और उसके साहित्य को बचाना 'कृतकार्य' करना था। ऐसे 'कृतकार्य' में उर्दू के विद्वान भी पीछे नहीं थे। हिन्दी और उर्दू वालों ने शब्द-चयन के अपने शुद्धतावादी विचारों के लिए तमाम तर्क रचे, लेकिन उसके पीछे का मानस अंग्रेजों द्वारा ही गढ़ा गया था। हिन्दीवालों का कहना था कि संस्कृत और अन्य देशी भाषाओं

से हिन्दी के लिए शब्दों का चयन हमारी साहित्यिक मजबूरी है, जबकि उर्दू वाले अरबी-फ़ारसी के शब्दों के आमद के लिए संस्कृति को जिम्मेवार ठहराते थे। उर्दू जिस जमीन से पैदा हुई थी उसको ध्यान में रखते हुए उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों की बहुतायत को जायज ठहराना थोड़ा मुश्किल है, लेकिन इस विषय में जितना हल्ला मचाया गया हकीकत उससे थोड़ा अलग है। फ़िराक गोरखपुरी ने अपनी पुस्तक 'उर्दू भाषा और साहित्य' में लिखा है कि 'उर्दू कविता का पंचानबे प्रतिशत भाग ऐसा है कि जिसमें वे ही अरबी और फ़ारसी के शब्द आते हैं जिन्हें अशिक्षित मुसलमान भी बोलते और समझते हैं। फ़िर ये शब्द विदेशी कहाँ रहें?'; और 'उर्दू का वह भाग जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुतायत होती है, उर्दू साहित्य का एक बटे सौ भाग है। बोलचाल के रूप में उर्दू भाषा शताब्दियों तक साँचे में ढलती रही, तब कहीं जाकर उर्दू में पहला शेर कहा गया और उर्दू कविता में लोगों ने अपनी बोली की गूँज और झनकार सुनी।'[4] इस तथ्य की पुष्टि करते हुए 'शेरोसुखन' नामक पुस्तक में अयोध्याप्रसाद गोयलीय ने लिखा है कि, ''उर्दू भाषा में हिन्दी की तरह बड़ा गुण यह है कि इसमें दुनिया की समस्त भाषाओं के शब्द तत्सम या तद्भव रूप में बड़ी आसानी से पच-खप जाते हैं।'' गोयलीय साहब ने उर्दू के 'सईदी शब्दकोश' के हवाले से बताया है कि इस शब्दकोश में कुल 32704 शब्द हैं जिसमें अरबी-फ़ारसी-उर्दू के 14200, हिन्दी के 9035, संस्कृत के 142, अंग्रेजी के 2265 और कुल 6945 मुहावरे हैं जिनमें से अधिकांश हिन्दी प्रदेशों से लिए गये हैं। उन्होंने यह भी जानकारी दी है कि जहाँगीर ने शराब को 'रामरंगी' और औरंगजेब ने आमों को 'सुधारस' और 'रसनाविलास' नाम दिये थे। मतलब साफ़ है कि शब्दों को आधार बनाकर खड़ा किया गया हिन्दी-उर्दू का विवाद निराधार और इस आधार पर उनकी साझी साहित्यिक विरासत का नकार अनुचित था। यह अंग्रेजों के मानस की कल्पना से जन्मा एक खतरनाक तर्क भर था जिसका शिकार हिन्दी-उर्दू दोनों का साहित्य हुआ। जहाँ तक सवाल उर्दू साहित्य में अरबी-फ़ारसी के साहित्य-रूपों को अपनाने और भारतीय साहित्य से दूरी बनाने का था तो यह उस समय के कवियों की मजबूरी थी, क्योंकि उन्हें अपने आश्रयदाताओं को खुश करना पड़ता था। फ़िर भी उर्दू भाषा का विकास उत्तर भारत में तब तक नहीं हो पाया जब तक उसने अपने कंधे पर से फ़ारसी का जुआठ उतार कर फेंक नहीं दिया। एहतेशाम हुसैन ने लिखा है कि 'जो नवीन भाषा उर्दू के रूप में निर्मित हो रही थी, वह उस समय तक लोगों को अपनी ओर न खींच सकी जब तक वह उत्तरी भारत में फ़ारसी के गहरे प्रभाव के नीचे दबी रही और उसका अपना व्यक्तित्व उभर कर सामने नहीं आया।'[6] यदि हिन्दी प्रदेश में उर्दू साहित्य के लेखन की शुरुआत से लेकर उन्नीसवीं सदी के मध्य तक की हिन्दी-उर्दू की कविता का तुलनात्मक अध्ययन करें तो उर्दू कविता में हिन्दी की तुलना में दरबार से बाहर निकलकर आम जनता के करीब जाने की कोशिश ज्यादा मिलेगी। जबकि उर्दू का तात्कालिक अतीत हिन्दी के भक्तिकाल जैसा जन-पक्षधर नहीं था। उर्दू साहित्य के भीतर जड़ता और संकीर्णता की आमद सर सैय्यद अहमद खान की भाषायी विद्वेष की राजनीति के प्रभाव में आरंभ हुआ जो उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षो तक आते-आते बेहद

आक्रामक हो गया। बीसवीं सदी में तो इस राजनीति ने भारत विभाजन की नींव रखने में और मुस्लिम राष्ट्रवाद का सपना निर्मित करने में बड़ी भूमिका निभायी। हिन्दी-उर्दू की साझी विरासत में दरार डालने में भी इसकी भूमिका निहायत ही नकारात्मक है।

हिन्दी-उर्दू के साहित्यिक रूपों में एक स्पष्ट अंतर भले ही रहा हो लेकिन यह अंतर इतना अधिक नहीं था कि दोनों भाषाओं के लेखक एक-दूसरे से अनजान हों। हिन्दी, उर्दू और जनपदीय भाषाओं के आपसी संबंध बेहद पुख़्ता थे। हिन्दी-उर्दू के साहित्यिक रूपों का विकास एक साथ हुआ और उसमें उस समय की साहित्यिक भाषाओं ब्रज और अवधी की बहुत बड़ी भूमिका थी। आम तौर पर यह माना जाता है कि हिन्दी ने तो हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक परंपरा और व्याकरणिक संरचना को स्वीकार किया लेकिन उर्दू ने इससे दूरी बनाये रखी। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने एक निबंध 'हिन्दी भाषा की विकास-परंपरा और भारतेन्दु-युग' में बहुत विस्तार से हिन्दी-उर्दू के साहित्यिक रूपों के साथ-साथ विकसित होने की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। उनका मानना है कि, 'पुरानी उर्दू- अथवा मुसलमान लेखकों की हिन्दी- पर जितना प्रभाव फ़ारसी का है, उससे कहीं ज्यादा ब्रजभाषा का है और यह प्रभाव उसकी मूल संरचना पर है। ब्रजभाषा से अलग हटकर पुरानी हिन्दी-उर्दू का विकास समझा ही नहीं जा सकता।'[7] जहाँ तक जनपदीय भाषाओं से दूरी बनाते हुए शुद्धता की ओर बढ़ने का सवाल है तो इसमें उर्दू के साथ-साथ हिन्दी भी शामिल है। यह प्रवृत्ति आधुनिक काल में बढ़ी और इससे दोनों भाषाओं की शक्ति क्षीण हुई। गालिब की कविता के जिस अंदाजे-बयाँ की खूब चर्चा होती है वह अरबी-फ़ारसी के कारण नहीं आती, वह आती है हिन्दी प्रदेश की जनपदीय भाषाओं के क्रियापदों और मुहावरों के सटीक प्रयोग से। एक उदाहरण प्रस्तुत है - *'रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो/ हमसुखन कोई न हो और हमजबाँ कोई न हो।/ बे दरो दीवार का इक घर बनाया चाहिए/ कोई हमसाया न हो और पासबाँ कोई न हो।'* गालिब के इन शेरों पर रामविलास जी की टिप्पणी काबिलेगौर है - ''गालिब जितनी फ़ारसी जानते थे, उससे बहुत ज्यादा हिन्दी जानते थे। उन्होंने फ़ारसी में जो कुछ कहा है और उर्दू में जो फ़ारसी लाये हैं उसके टक्कर की और उससे बढ़कर कविता शायद फ़ारसी में मिल जाये किन्तु इस रहिये, पड़िये और मर जाइये का जवाब नहीं है, न हिन्दी में, न उर्दू में।''[8]

हिन्दी-उर्दू विवाद की जमीन चाहे जितनी दलदली हो लेकिन उस पर बने भवन की दीवारें बेहद मजबूत हैं। इसकी एक झलक हिन्दी-उर्दू साहित्य के इतिहास लेखन में मिलती है। इन दोनों भाषाओं में इतिहास लेखन की आरंभिक कोशिशें हिन्दी-उर्दू विवाद के चरम समय में ही हो रही थीं, इसलिए उसमें न केवल दोनों भाषाओं की रचनाओं के उल्लेख से परहेज किया गया बल्कि उनके एक-दूसरे पर पड़ने वाले प्रभावों के अध्ययन की भी गंभीर कोशिशें नहीं हुईं। हिन्दी-उर्दू के इतिहास-ग्रंथों को अलग-अलग पढ़ने से इस तथ्य का बिल्कुल ही अहसास नहीं होता कि इन दोनों भाषाओं का उत्स एक था और ये लगभग तीन सौ वर्षों तक साथ-साथ एक ही इलाके में विकसित होती रहीं थीं। एक-दूसरे की प्रतिद्वंदिता के कारण दोनों भाषाओं के

इतिहास की पुस्तकें अनैतिहासिकता, स्वेछाचारिता और अलोकतांत्रिक प्रवृतियों का शिकार हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों के संदर्भ में यदि बात की जाए तो उसमें हिन्दी प्रदेश की तमाम जनपदीय भाषाओं के साहित्य को तो स्वीकार कर लिया गया लेकिन नजीर-मीर-गालिब जैसे हिन्दी प्रदेश के बेहद लोकप्रिय रचनाकारों का नामोंल्लेख तक नहीं मिलता। उर्दू से हिन्दी की प्राचीनता को सिद्ध करने के क्रम में अपभ्रंश तक के साहित्य को 'पुरानी हिन्दी' कहकर हिन्दी साहित्य का हिस्सा बना लिया गया लेकिन आधुनिक काल में आकर जनपदीय भाषाओं में हो रहे विशिष्ट साहित्य लेखन तक को अनदेखा कर दिया गया। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में खड़ी बोली में लिखने वाला हिन्दी का छोटा-से-छोटा कवि शामिल है लेकिन भोजपुरी के जन कवि भिखारी ठाकुर के लिए उसमें जगह नहीं है। इस विषय में शिवदान सिंह चौहान ने ठीक लिखा है कि, ''संघ-भाषा पद की प्रतिद्वंद्विता में उर्दू के मुकाबले में खड़ी बोली हिन्दी का दावा मंजूर कराने के लिए उसकी प्राचीनता और व्यापकता प्रमाणित करने के हेतु ही अनेक प्रवादों का जन्म हुआ था जिन्होंने अंततोगत्वा हमारी इतिहास - दृष्टि तक को संकीर्ण बना दिया लेकिन हमें वकालत का यह तरीका प्रारंभ से ही सांप्रदायिक लगता रहा है।''[9]

ठीक ऐसे ही उर्दू साहित्य के इतिहास में भी खड़ी बोली हिन्दी के साथ-साथ जनपदीय भाषाओं में लिखित तमाम साहित्य को नहीं अपनाया गया जबकि भावबोध के स्तर पर रीतिकालीन दोहे और कवित्त तत्कालीन उर्दू की गजलों और नज्मों के काफ़ी करीब पड़ते हैं। सूफ़ी कवियों को भी उर्दू साहित्य का हिस्सा बनाने में गुरेज किया गया। यह ठीक है कि उत्तर भारत में उर्दू साहित्य लेखन की शुरूआत वली के दिल्ली आगमन के बाद से ही माना जाता है, पर अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए उर्दू साहित्य के इतिहासकार अमीर खुसरो से होते हुए दक्खिनी हिन्दी तक की दौड़ तो लगाते ही हैं! फ़िर मुगल दरबारों और इस्लाम के प्रति श्रद्धानवत सूफ़ी कवियों से उन्हें क्यों परहेज था? सवाल यह है कि सूफ़ी कवि उर्दू साहित्य के इतिहास का अंग क्यों नहीं हैं जबकि वे फ़ारसी लिपि में लिख रहे थे जिसमें की सारा का सारा उर्दू साहित्य लिखा गया है? तब क्या मामला भावबोध का था? तो क्या यह मान लिया जाय कि उर्दू का भावबोध मुस्लिम भावबोध का पर्याय है और हिन्दी का भावबोध हिन्दू भावबोध का? कम-से-कम हिन्दी-उर्दू के इतिहास ग्रंथों का तो यही सच है। आधुनिक काल में भी प्रेमचंद समग्रता में उर्दू साहित्य का हिस्सा नहीं है जबकि उन्होंने उर्दू में ही लिखना आरंभ किया था और उनकी रचनायें हिन्दी-उर्दू की साझी विरासत का जीवंत दस्तावेज है- भाषा के स्तर पर भी और भाव के स्तर पर भी।

उर्दू का तो नहीं पता पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में विद्यमान इस असंगति को दूर करने के लिए शिवदान सिंह चौहान ने हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन और अनुसंधान में 'त्रिविध परिपाटी' के सूत्रपात की वकालत की थी, जिसके तहत हिन्दी प्रदेश की तमाम भाषाओं- जिसमें उर्दू भी शामिल है- की रचनाओं के बिना किसी भेदभाव के खोज और स्वीकार द्वारा हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास लिखने का सुझाव था। हिन्दी-उर्दू की साझी विरासत के सपने

को इस राह पर चलकर ही अंजाम तक पहुंचाया जा सकता है। हिन्दी-उर्दू में अलगाव और उसकी साझी विरासत के नकार की उपनिवेशवादी रणनीति- जो हमारे विचारों से होते हुए हमारे हीमोग्लोबिन में समा गया है- के प्रतिकार के बिना हिन्दी-उर्दू की साझी विरासत केवल हिन्दू-मुसलमान की साझी विरासत बन कर रह जायेगी, जो वह है नहीं। उर्दू का निर्माण न खड़ी बोली में अरबी-फ़ारसी के शब्दों को मिलाकर हुआ था और न ही हिन्दी को फ़ोर्ट विलियम कॉलेज वालों ने गढ़ा था। इन दोनों भाषाओं को हिन्दी प्रदेश के आमजन ने रचा था, जिनमें हिन्दू भी शामिल थे और मुसलमान भी। यह भाषा जिसे पहले हिन्दवी और बाद में हिन्दी-उर्दू कहा गया, हिन्दू-मुस्लिम जनता के आपसी संवाद के क्रम में विकसित हुई थी, पर दुर्भाग्य यह है कि यही आगे चलकर उनके आपसी विवाद की मूल वजह बनी। हिन्दी-उर्दू साहित्य के साझी विरासत की तलाश के लिए हिन्दी-उर्दू के भिन्नता के आधारों की जगह उनके अलगाव की वजहों की तलाश ज्यादा जरूरी है। हिन्दी-उर्दू साहित्य में भिन्नता के जितने तत्त्व हैं उससे कहीं ज्यादा एकता के सूत्र हैं क्योंकि इनको रचने वाले एक ही मिट्टी से जन्मे थे। उनके विकास का खाद-पानी एक था। घनानन्द के प्रेम की पीड़ा और त्याग पर उर्दू के कवियों की आशिकी का गहरा प्रभाव है, तो गालिब के एकनिष्ठ प्रेम पर अकुंठ भारतीय प्रेम का असर है। तुलसी के रामराज्य की कल्पना में अकबर के शासन का बिम्ब है तो नजीर की नज्मों में भारतीय संस्कृति के शानदार विरासत की पृष्ठभूमि विद्यमान है। वास्तव में, हिन्दी और उर्दू की साहित्यिक विरासत साझी है, सपना उसको साझा करने का होना चाहिए।

असिस्टेण्ट प्रोफ़ेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश-470003
मो. 9424433001

संदर्भ-सूची -

1. *भोलानाथ तिवारी की पुस्तक 'हिन्दी भाषा का इतिहास' के पृष्ठ संख्या - 60-61 पर उद्धृत।*
2. *ब्रेडी, डेनियेला, 'स्वतंत्र भारत में उर्दू की नियति : भाषा और मुस्लिम आस्मिता' (लेख) 'संवेद' (अंक-36, जनवरी-2011) : 271*
3. *शुक्ल, रामचन्द्र (संवत् 2056), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नागरी प्रचारिणी सभा' वाराणसी : 230*
4. *गोरखपुरी, फिराक (1992), 'उर्दू भाषा और साहित्य', उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ : 4, 8*
5. *गोयलीय, अयोध्या प्रसाद (2006), 'शेर-ओ-सुखन', भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली : 40-41*
6. *हुसैन, एहतेशाम (2008), 'उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद : 16*
7. *शर्मा, रामविलास (1976), 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : 277*
8. *वही, 155*
9. *चौहान, शिवदान सिंह (2002), 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष', स्वराज प्रकाशन, दिल्ली : 26*

डॉ. राममनोहर लोहिया का भाषाई दृष्टिकोण

—अशोक अहिरवार

अंग्रेजों ने मात्र भौगोलिक आधार पर हमारे देश को गुलाम नहीं बनाया वरन् उन्होंने एक गुलामी और प्रदान की जो आज भी भारत में मौजूद है, अंग्रेजी भाषा के रूप में। मानसिक गुलामी के नाम से। डॉ. लोहिया ने इस बात को अपने भाषाई दर्शन में विभिन्न तर्कों और ऐतिहासिक तथ्यों से सरलता से सिद्ध किया। मानव के मानसिक और सांस्कृतिक विकास के लिए भाषा का सर्वाधिक महत्त्व होता है। भाषा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति, व्यक्ति तक पहुँचता है। ज्ञान का आदान-प्रदान होता है। मातृभाषा और सर्वज्ञात भाषा के सर्वत्र प्रयोग से ही व्यक्ति का उत्थान होता है और व्यक्ति के उत्थान से राष्ट्र का उत्थान होता है। दुर्भाग्य का विषय है कि भारत-वर्ष में जनता की भाषा में कामकाज न होकर, एक विदेशी और चंद लोगों की भाषा अंग्रेजी में होता है। अंग्रेजी के इस अनाधिकार प्रवेश के परिणामस्वरूप साधारण व्यक्ति शासन, विज्ञान आदि से वंचित रह जाता है और ऐसी स्थिति में शासक और शासित एक दूसरे के लिए अपरिचित बने रहते हैं। अतः ऐसी स्थिति में अंग्रेजी को हटाये बिना जनतांत्रिक-समाजवाद भारत में वास्तविक रूप से स्थापित होना असंभव है। इस संबंध में लोहिया का स्पष्ट कहना है 'जिस जबान में सरकार का काम चलता है, इससे समाजवाद तो छोड़ ही दो, प्रजातंत्र भी छोड़ो, ईमानदारी और बेईमानी का सवाल तक जुड़ा हुआ है। यदि सार्वजनिक और सरकारी काम ऐसी भाषा में चलाये जाये, जैसे देश में जादू-टोना और टोटका चलता है। तो वहाँ क्या होता है? जिन लोगों के बारे में मशहूर हो जाता है कि वे जादू बगैरह से बीमारियाँ आदि अच्छी कर सकते हैं, लाखों करोड़ों उनके फंदे में फँसे से रहते हैं। ठीक ऐसे ही जबान का मामला है जिस जबान को करोड़ों लोग समझ नहीं पाते, उसके बारे में यही समझते हैं कि यह कोई गुप्त विद्या है, जिसे थोड़े लोग की जान सकते हैं। ऐसी भाषा में जितना चाहे झूठ बोलिये, धोखा कीजिए सब चलता रहेगा, क्योंकि लोग समझते ही नहीं। आज शासन में लोगों की दिलचस्पी हो तो कैसे हो? वह कुछ जान ही नहीं पाते कि क्या लिखा है, क्या हो रहा है?'[1] इस प्रकार उन्होंने अंग्रेजी को शोषण का हथियार बताते हुये कहा कि यह समाजवाद ही राह का सबसे बड़ा रोग है। उन्हीं के अनुसार 'मेरी समझ में वे लोग बेवकूफ हैं जो अंग्रेजी के चलते हुए समाजवाद कायम करना चाहते हैं। वे बेवकूफ हैं जो समझते हैं कि अंग्रेजी रहने पर जनतंत्र भी आ सकता है। हम तो समझते हैं कि अंग्रेजी के होते यहाँ ईमानदारी भी आना असंभव है। थोड़े से लोग इस अंग्रेजी के जादू द्वारा करोड़ों को धोखा देते रहेंगे।'[2]

डॉ. लोहिया मानते थे कि भाषा का सवाल किसी राष्ट्र के लिए जीवन-मरण का प्रश्न होता है और उसकी अहमियत रोटी, कपड़ा और मकान से किसी प्रकार कम नहीं की जा सकती। उनकी नजर में यह प्रश्न मूलतः एक राजनैतिक प्रश्न है और उसे स्कूल, कालिजों की चारदीवारी और साहित्यकारों की गोष्ठियों में नहीं सुलझाया जा सकता है। उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उनकी असली नाराजगी अंग्रेजी के प्रति थी। 15 अक्टूबर, 1961 में हैदराबाद को 'अंग्रेजी हटाओ आंदोलन' में उन्होंने एक लंबा भाषण दिया जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया था कि हिन्दी और भारतीय भाषाओं का कहीं कोई झगड़ा नहीं है। वे कहते हैं 'अंग्रेजी हटाने का मतलब जितना हिन्दी चलाना है या हिन्दुस्तानी चलाना है उतना ही तेलुगु चलाना है, बंगाली चलाना है, तमिल चलाना है, मराठी चलाना है और दूसरी भाषाओं को चलाना है।'[3] वे अंग्रेजी को गुलामी का प्रतीक मानते हुए कहते थे कि जब तक इसे हटाकर भारतीय भाषाओं को उनका गौरवपूर्ण स्थान नहीं दे दिया जाता, तब तक भारतीय स्वतंत्रता वैसे ही अधूरी है जैसे रोटी कपड़े के बगैर। उनका कहना था कि 'भारत-माता सदियों के बाद आजाद तो हो गयी है, पर माँ की जीभ अभी भी कटी है। अंग्रेजी हटाकर भारत-माता को वाणी दो, बोली दो'।[4]

उन्होंने एक सच्चे समाजवादी की भाँति 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन को अपनी समाजवादी विचारधारा का एक अनिवार्य अंग स्वीकार किया और भारतीय भाषाओं के विकास पर उन्होंने बहुत ध्यान दिया। क्योंकि उनका विश्वास है कि इससे समाजवाद जल्दी आ सकेगा। उनका विचार है कि अंग्रेजी के कारण वर्ग-भेद को आश्रय मिलता है। क्योंकि गरीबों और अमीरों के स्कूल अलग हो जाते हैं। यदि समाजवाद को कोरा नारा बनाकर नहीं रखा जाता है तो इस वर्गभेद को खत्म करना ही होगा ताकि राष्ट्रपति और भंगी का लड़का एक ही शिक्षा के हकदार हों। उन्होंने भारत में व्याप्त अंग्रेजी के चमकीलेपन के कारण अंग्रेजी पर प्रहार करते हुए कहा, 'यह भ्रम है कि अंग्रेजी विश्व-भाषा है जबकि दुनिया के लगभग 10-12 फीसदी लोगों की ही मातृभाषा अंग्रेजी है। राष्ट्रसंघ का काम भी केवल अंग्रेजी में ही नहीं वरन् पाँच भाषाओं में चलता है। दूसरा भ्रम यह है कि अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान की भाषा है, लेकिन एकमात्र नहीं। उनके साथ जर्मन, जापानी, रूसी, चीनी कई ज्ञान विज्ञान की भाषायें हैं और आज विज्ञान के क्षेत्र में जर्मन, रूसी बगैरह अग्रसर हैं। पहले से भी यह सिद्ध हो चुका है कि मार्कोनी, लुई पाश्चर, आइंस्टीन जैसे कई वैज्ञानिक और दान्ते, गेटे, सुकरात जैसे दार्शनिकों की भाषा अंग्रेजी नहीं थी।'[5] अपने 'अंग्रेजी हटाओ' नारे को स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं कि 'जब हम अंग्रेजी हटाओ' कहते हैं, तब हम वह बिलकुल नहीं चाहते कि उसे इंग्लिस्तान या अमेरिका से हटाया जाये और न ही हिन्दुस्तानी कॉलिजों से, बशर्ते कि वह ऐच्छिक विषय हो। पुस्तकालयों से उसे हटाने का सवाल तो उठता ही नहीं।'[6]

लोहिया को भारत में अंग्रेजी की प्रतिष्ठा देखकर अत्यंत आश्चर्य और दुःख होता था। उनका कहना था कि 'विश्व में कोई भी सभ्य अथवा असभ्य देश ऐसा नहीं जिसकी व्यवस्थापिकाओं, न्यायालयों, प्रयोगशालाओं, उद्योगों, रेलवे, तार आदि सभी विभागों में विदेशी

और सामंती भाषा अंग्रेजी का प्रयोग होता हो और जिससे 90 प्रतिशत व्यक्ति अनभिज्ञ हों। भारत की तरह सार्वजनिक कार्यों में यदि अंग्रेजी को किसी देश ने अपनाया है भी तो केवल उस स्थिति में जबकि उसकी स्वयं की भाषायें प्रायः लुप्त हो गयी है।'[7] वे विदेशी भाषाओं को दरबारी भाषा कहते हैं और लिखते हैं कि 'कितनी अजीब बात है कि हिन्दुस्तान के किसान, मजदूर, दुकानदार कम पढ़े-लिखे लोग तथा मध्यम वर्ग जब बड़े लोगों को अंग्रेजी में जल्दी-जल्दी गिटपिट करते सुनते हैं, तो उनकी समझ में नहीं आता, और तब वे सोचते हैं कि हम छोटे दर्जे के आदमी हैं और यह लोग बड़े दर्जे के आदमी हैं। हिन्दुस्तान के बरबाद होने का रहस्य यही है, कि हिन्दुस्तान का शासक वर्ग अंग्रेजी का इस्तेमाल कर रहा है।'[8]

भारत में भाषा समस्या के संबंध में उन्होंने कहा कि जब देश का संविधान बन रहा था उसी समय भाषा के प्रश्न को हमेशा के लिए सुलझा लेना चाहिए था। इसे भविष्य के लिए टालकर हमने अक्लमंदी नहीं की क्योंकि इससे सीधी-सादी समस्या और भी जटिल होती गई, और इसमें बड़े राजनैतिक दाँव-पेंच चलने लगे। हिन्दी को विवादास्पद स्थिति में लाने के लिए उन्होंने नेहरू पर सीधे आक्रमण किये थे, और कहा था कि नेहरू स्वयं विदेशी संस्कृति तथा भाषा से इतने प्रभावित हैं कि उनका देशी संस्कृति तथा भाषा प्रेम राजनीतिक दिखावा मात्र है, क्योंकि हिन्दी से करोड़ों वोट जुड़े हैं और दक्षिण से उन्हें सुरक्षा मिली हुई है।[9]

उन्होंने वर्तमान सरकार की भाषा नीति पर आक्षेप करते हुए कहा कि 'संविधान में लिखा है कि 15 वर्षों तक हिन्दी ही चलेगी, किन्तु उसमें भी एक बचाव रख लिया गया है, राष्ट्रपति यदि चाहे तो इस अवधि को बढ़ा सकता है। आजकल की हालत से तो साफ पता चलता है कि यह अवधि बढ़ती ही रहेगी। हमारा कहना है कि सबसे पहले तो अंग्रेजी सब जगह से समाप्त कर दो, यह पहली बात है, इसके बाद हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं का प्रश्न रह जाता है। उसके लिए हमारा कहना है कि केन्द्र की भाषा हिन्दी रहे और हर सूबे में अपनी-अपनी भाषा चले। सूबे केन्द्र को अपनी भाषा में लिखें और केन्द्र हिन्दी में लिखे। बी.ए. तक की पढ़ाई और छोटी अदालतों का काम क्षेत्रीय भाषाओं में चलाया जाये और एमए. की पढ़ाई और हाईकोर्ट का काम हिन्दी में हो, बी.ए. तक अपनी भाषा के साथ हिन्दी भी वैकल्पिक विषय रहे।'[10] उन्होंने लोगों के इस तर्क का कि हिन्दी या अन्य भाषायें अधिक समृद्ध नहीं हैं, बड़े अच्छे शब्दों द्वारा खण्डन किया और कहा कि जब तक आप हिन्दी को स्थापित नहीं करेंगे वह विकास कैसे कर सकेगी। उनका विचार है कि हिन्दी को पवित्र बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील लोग ही हिन्दी की प्रगति में बाधक हैं। ये लोग हिन्दी का पल्ला जनेऊ और चोटी धारियों के साथ जोड़ देते हैं। वे चाहते हैं कि यदि नवीन विश्व के नेतृत्व हेतु हिन्दी को समर्थ बनाना है तो उसे सभी भाषाओं से सीखने, अपने को बदलने और सब ओर से अपने को धनी बनाने के लिए तैयार रखना चाहिए। हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए हिन्दी भाषाओं को अंग्रेजी छोड़ने के साथ-साथ पुरानी दुनिया को भी छोड़ना चाहिए। उनका मत था कि भाषा मिला भी

सकती है और अलग भी कर सकती है। वर्तमान में भाषा को मिलन का काम करना चाहिए। हिन्दी को चाहिए कि वह तेलुगु, तमिल, मराठी, बंगला भाषाओं को समाहित कर अपना क्षेत्र व्यापक बनाये।

लोहिया का मत है कि माध्यम के रूप में अंग्रेजी के प्रयोग से आर्थिक विकास अवरुद्ध होता है, और शिक्षा के क्षेत्र में भी शोध एवं ज्ञानार्जन बहुत कम होता है। प्रशासन की अक्षमता, विषमता और भ्रष्टाचार में भी अंग्रेजी का बहुत कुछ हाथ है।[1] मातृभाषा का त्याग कर विदेशी भाषा अंग्रेजी का सत्कार राष्ट्रीय स्वाभिमान के विरूद्ध है। जनतांत्रिक भाषा से राष्ट्रीय सुरक्षा भी जुड़ी हुई है। सेना के प्रत्येक बड़े और छोटे पदाधिकारियों की भाषा एक होनी चाहिए। सैनिकों और सामान्य जनता को उसकी भाषा देकर ही राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सक्षम और स्वाभिमानी बनाया जा सकता है। उन्होंने कहा है 'अब भला बताईये पलटनी अफसरों की योग्यता इस बात से परखी जायेगी कि वह अंग्रेजी कैसी बोलता है, या इस बात से कि वह दुश्मन का मुकाबला कितनी अच्छाई से कर सकता है और लड़ाई की कला कैसी जानता है?' उन्होंने उदाहरण देते हुए आगे कहा कि 'पिछली लड़ाई का सबसे बड़ा जनरल एक जर्मन था, जो बहुत ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं था और अंग्रेजी का एक लब्ज भी नहीं जानता था। हाँ लड़ना जानता था। हिन्दुस्तान में एक से एक वीर जातियाँ बसती हैं, वे लड़ाई की कला में प्रतिभा दिखा सकती हैं। पर अफसरी के लिए उन्हें सीखनी पड़ती है अंग्रेजी। न सीखें तो अफसर नहीं बन सकते। केवल भाषा की वजह से उनकी काबिलियत का इस्तेमाल नहीं है। इसलिए मैं कहता हूँ कि सार्वजनिक उपयोग से अंग्रेजी हट जाने पर 40 करोड़ को अपनी योग्यता दिखलाने का मौका मिलेगा।'[12] परन्तु दुर्भाग्य है कि अपने देश में विदेशी भाषा प्रगति की और अपनी भाषायें प्रतिक्रियावाद की प्रतीक समझी जाती हैं। अंग्रेजी के विज्ञ व्यक्ति ही उच्च पदाधिकारी होते हैं। इन सबकी भाषा सामान्य जन के परे होती है। कानून और संविधान अंग्रेजी में होने के कारण जनता के लिए निष्प्रयोजनीय रहते हैं। मजदूरों की ओर से उनके पेट के सवाल ऐसी भाषा में लिखे जाते हैं, जिसे वे खुद नहीं समझते। देशी भाषाओं का प्रयोग नहीं होता है फलस्वरूप मजदूरों के अंदर से नेता नहीं निकल सकते। जड़ ही कट गई, जमीन ही नहीं जिस पर खड़े होकर मजदूर खुद नेता बने।[3] उनका मत था कि हिन्दी, तेलुगु, उर्दू, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि देशी भाषाओं को गरीब और असमृद्ध भाषा कहना उचित नहीं। अंग्रेजी में लगभग दो या ढ़ाई लाख शब्द हैं जबकि हिन्दुस्तान की भाषाओं में छः लाख शब्द हैं। यद्यपि ये छः लाख शब्द अपेक्षाकृत मंजे हुए नहीं हैं, तथापि डा. लोहिया की दृष्टि में, इन शब्दों का दैनिक प्रयोग प्रत्येक कार्य में तुरन्त आरंभ होना चाहिए क्योंकि शब्द बर्तनों की तरह प्रयोग के द्वारा ही चमकीले और आकर्षक बनते हैं। अन्यथा उनमें जंग लग जाती है। न्यायालयों में विधि और बहस में प्रयोग के साथ भाषा और उसके शब्द भी मंजते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में भाषा के प्रयोग से ही भाषा सुधरती और विकसित होती है। इसलिए उनका मत है कि यदि हिन्दुस्तानी भाषाओं का प्रत्येक क्षेत्र में अविलम्ब प्रयोग प्रारंभ नहीं किया जाता, तो अंग्रेजी अधिक समृद्ध तथा विकसित होगी और हिन्दुस्तानी भाषायें गर्त में गिरती चली जायेगी।

लोहिया ने उर्दू के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि यह भी हिन्दुस्तान की भाषा है और इसकी वही प्रतिष्ठा होनी चाहिए जो प्रतिष्ठा हिन्दी की है। उर्दू भाषा की मधुरता, सादगी और गहराई की वे प्रशंसा करते थे। उनकी दृष्टि में हिन्दी और उर्दू पार्वती और सती की तरह एक हैं, किन्तु फिर भी जब तक हिन्दी और उर्दू एक नहीं हो जाती तब तक अरबी लिपि में लिखी उर्दू को सरकारी तौर पर इलाकाई जबान का स्थान मिलना चाहिए।[14] उन्होंने आशापूर्वक कहा कि वह समय आयेगा जब हिन्दी और उर्दू में कोई अंतर नहीं रहेगा। उनकी इच्छा थी कि शीघ्र ही उर्दू की सब बड़ी पुस्तकें नागरी लिपि में छप जानी चाहिए, किन्तु उर्दू के विकास के लिए उन्होंने फारसी और अरबी के विकास की आवश्यकता अनुभव नहीं की।

डॉ. लोहिया का भाषा संबंधी दृष्टिकोण देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने सारी समस्याओं के हल की एक औषधि का आविष्कार किया था। परन्तु तात्कालिक भारतीय नेताओं ने उनके इतने पुख्ता विचारों में भी विरोध का रास्ता निकाला, जो बड़ा ही खतरनाक था। जबकि उनके उस पूर्ण दर्शन में कहीं कोई सुराग भी नहीं है। अंग्रेजी को भारत से समाप्त होना ही चाहिए। अन्यथा हम समस्त भाषाओं को समाप्त कर अंग्रेजी की चादरिया ओढ़कर आधुनिकता की छाँव में गुलामी को विशुद्ध रूप में स्वीकार करने की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

असोसिएट प्रोफ़ेसर
इतिहास विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश-470003
मो. 9425170725

सन्दर्भ सूची -

1. *प्रतिपक्ष, जून 1990, पृ. 49.*
2. *वही, पृ. 8.*
3. *राममनोहर लोहिया, 'अंग्रेजी हटाओ', पृ. 3.*
4. *ओमप्रकाश हेमकार, 'डॉ. राममनोहर लोहिया-जीवन और दर्शन', पृ. 111.*
5. *राममनोहर लोहिया, 'अंग्रेजी हटाओ', पृ. 3.*
6. *आकार शरद, 'लोहिया के विचार', पृ. 136.*
7. *राममनोहर लोहिया, 'भाषा', पृ. 187.*
8. *वही, पृ. 145.*
9. *राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'समग्र लोहिया', पृ. 164.*
10. *प्रतिपक्ष, जून 1990, पृ. 51.*
11. *राममनोहर लोहिया, 'देश विदेश नीति - कुछ पहलु', पृ. 114.*
12. *'प्रतिपक्ष', जून 1990, पृ. 50.*
13. *राममनोहर लोहिया, 'भाषा', पृ. 29.*
14. *राममनोहर लोहिया, भाषा, पृ. 6.*

ज़रूरी है हिन्दी का सम्मान

—ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव

'घर का जोगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध' यह कहावत आज हमें अधिकांशतः चरितार्थ होती नजर आती है। 1947 ई. में भारत अंग्रेजों की गुलामी से तो स्वतंत्र हो गया, मगर आज 68 वर्ष बाद भी हम उनकी भाषा अंग्रेजी की गुलामी से स्वतंत्र नहीं हो पाये हैं। पूर्व में हमने, गलती यह की कि अंग्रेजों को अपने से श्रेष्ठ मान लिया, और इसी का फायदा उठा कर उन्होंने हमें गुलामी की जंजीरों में जकड़ लिया। आज भी हम यही गलती कर रहे हैं कि अंग्रेजी को हिन्दी से श्रेष्ठ मान रहे हैं। पश्चिमी संस्कृति को भारतीय संस्कृति से श्रेष्ठ मान बैठे हैं। कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धांत, भारत में दो वर्गों के संघर्ष के रूप में दिखाई देता प्रतीत होने लगा है। एक वर्ग है अंग्रेजी भाषा बोलने वाला वर्ग और दूसरा वर्ग है हिन्दी भाषा बोलने वाला वर्ग। मार्क्स के शोषण के सिद्धांत की तर्ज पर अंग्रेजी भाषा-भाषी वर्ग प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी भाषा भाषी वर्ग को शोषण का शिकार बनाता दिखाई देता प्रतीत होने लगा है। घर का जोगी जोगड़ा - कहावत चरितार्थ हो रही है।

हिन्दी को मातृभाषा कहा जाता है। जिस प्रकार हम अपनी माँ का सम्मान करते हैं उसी प्रकार हमें अपनी मातृभाषा का भी सम्मान करना चाहिये। मैं यहाँ एक उदाहरण दूँगा। अपनी मेहनत के दम पर अच्छा मुकाम प्राप्त करने वाले एक भारतीय का साक्षात्कार लेने एक विदेशी व्यक्ति आये। विदेशी ने अंग्रेजी में प्रश्न पूछा, भारतीय ने हिन्दी में उत्तर दिया। क्रमशः पाँच-छः प्रश्न अंग्रेजी में पूछे गये उत्तर हिन्दी में मिले। विदेशी ने जब बाद में प्रश्न हिन्दी में पूछना आरंभ किया तो भारतीय ने उत्तर अंग्रेजी में देना आरंभ कर दिया। विदेशी हत-प्रभ था। उसने साक्षात्कार पश्चात् इसका कारण पूछा। भारतीय ने उत्तर दिया- जब तक आप अपनी माँ का सम्मान कर रहे थे, मैं अपनी माँ का सम्मान कर रहा था। जब आपने मेरी माँ का सम्मान आरंभ किया तो मैंने आपकी माँ का सम्मान आंरभ कर दिया। इस उदाहरण द्वारा मैं कहना चाहता हूँ कि, आप अंग्रेजी से परहेज न करें, मगर अपनी मातृभाषा का सम्मान करें। आप यदि अपनी मातृभाषा का सम्मान करने लगेंगे तो दूसरों को भी इसका सम्मान करना ही होगा।

तस्वीर का दूसरा रुख दिखाने के लिये मैं एक अन्य उदाहरण दूँगा। एक कार्यक्रम में एक महाशय हिन्दी में उद्बोधन प्रस्तुत कर रहे थे। उनके उद्बोधन में भाषागत् एवं व्याकरण संबधी कुछ अशुद्धियाँ थीं। चूँकि अंदाज चुटीला था, अतः लोग तालियाँ बजा रहे थे। उसी

कार्यक्रम में कुछ देर बाद एक अन्य महाशय ने भी उद्‌बोधन प्रस्तुत किया। उनका उद्‌बोधन अंग्रेजी में था। जब उन्होंने उच्चारण में एवं व्याकरण में भाषागत अशुद्धियाँ कीं तो लोग मज़ाक उड़ाने लगे। लोगों का कहना था कि बताइये इसे इतने अच्छे पद पर होते हुये भी ठीक से अंग्रेजी बोलना भी नहीं आता। लोगों ने उन पर तरह-तरह के व्यंग्य बाण छोड़े। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यहाँ यह दोहरा मापदण्ड क्यों ? वस्तुतः लोग अपनी माँ (हिन्दी) का अपमान सुनते रहे सहते रहे, तालियाँ बजाते रहे। यही लोग दूसरों की माँ (अंग्रेजी) का अपमान बर्दाश्त नहीं कर सके। यही है मानसिक गुलामी, कि हमने अपने ही देश में अपनी माँ (हिन्दी) को पराया कर दिया। उसके सम्मान की तनिक भी परवाह नहीं है। घर का जोगी जोगड़ा बन कर रह गया।

काफी वर्ष पहले एक 'दीवार' फिल्म आई थी। उसमें एक भाई दूसरे भाई से कहता है कि 'मेरे पास गाड़ी है, बंगला है, बैंक बैलेंस है... तुम्हारे पास क्या है?' दूसरा भाई जबाव देता है 'मेरे पास माँ है'। यह संवाद अत्यन्त लोकप्रिय हुआ था। आज समय बदल गया है। कतिपय बच्चों को यह बात नागवार गुजरती है कि उनकी माँ को अंग्रेजी बोलना नहीं आता। बड़े पद पर पहुँच कर बच्चे यह भूल जाते हैं कि इसी माँ के संस्कारों का प्रतिफल है कि वे इतने ऊँचे पद पर पहुँचे हैं। अंग्रेजी नहीं माँ महत्वपूर्ण है। आज ट्रेन में यदि एक व्यक्ति टी.सी. से हिन्दी भाषा में बात करके आरक्षण माँगता है, तो उसे अनसुना कर दिया जाता है। दूसरा व्यक्ति जाकर अंग्रेजी भाषा में बात करके आरक्षण माँगता है तो अंग्रेजी के प्रभाव से उसे आरक्षण मिल जाता है। यही स्थिति अन्य स्थलों पर भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है। एक व्यक्ति के पास संस्कार हैं, ज्ञान का अथाह भण्डार है, हर विधा में वह पारंगत है, जीवन के व्यवहारिक एवं सैद्धान्तिक हर ज्ञान से वह परिपूर्ण है, फिर भी मात्र हिन्दी भाषा में बोलने एवं अंग्रेजी न बोलने के कारण समाज में उसे वांछित रुतबा हासिल नहीं है। दूसरे व्यक्ति के पास, न तो कोई ज्ञान है, न ही कोई संस्कार हैं, फिर भी वह महत्त्वपूर्ण इसलिये है क्योंकि वह अंग्रेजी बोल लेता है। मात्र अंग्रेजी बोलने के कारण समाज में वह रुतबा प्राप्त किये हुये है। वह शान के साथ कहता है 'मेरे पास अंग्रेजी है'। इस तरह 'मेरे पास माँ है' के स्थान पर 'मेरे पास अंग्रेजी है' ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गया है। घर का जोगी जोगड़ा हो गया है। आखिर ऐसा क्यों? ऐसा मात्र इसलिये है, क्योंकि समाज आज भी मानसिक दासता का शिकार है। समाज ने भाषा को ज्ञान का प्रतीक मान लिया है, वह नहीं समझता कि भाषा तो ज्ञान संप्रेषण का माध्यम मात्र है।

यहाँ मैं 1980 की गुना (म.प्र.) की एक घटना का जिक्र करना चाहूँगा। उस समय गुना में हाकी के टूर्नामेंट होते थे, जिसमें समस्त भारत की टीमें हिस्सा लेती थीं। 1980 में विजेता टीम का मुकाबला रूस की टीम से होना था। रूस की टीम गुना के सर्किट हाउस में रुकी थी। मैं उस समय कक्षा 7 में पढ़ता था। मैं सर्किट हाउस जाकर रूस की टीम के कप्तान से मिला। उनसे अंग्रेजी भाषा में बात की और आटोग्राफ माँगे। उन्होंने कहा- 'आप अपनी मातृभाषा हिन्दी में बात क्यों नहीं करते, मुझे खुशी होगी यदि आप हिन्दी में बात करेंगे।' उन्होंने मेरी

डायरी पर हिन्दी भाषा में 'दोस्ती जिन्दाबाद' लिखकर आटोग्राफ दिया। उस दिन मुझे अपने अंग्रेजी बोलने पर ग्लानि हुई और मैंने प्रण किया की यथासम्भव हिन्दी ही बोलूँगा, हिन्दी में ही अधिकांश कार्य करूँगा। सागर में इतिहास विभाग के व्याख्याता पर नियुक्त होने के पश्चात् राहुल सांकृत्यायन पर मैंने शोध कार्य किया। राहुल जी भारत सहित विश्व की लगभग छत्तीस भाषाओं के ज्ञाता होने के बावजूद हिन्दी भाषा को अत्यन्त महत्त्व देते थे। उन्होंने एक सौ बीस से अधिक पुस्तकों का सृजन हिन्दी में करके हिन्दी भाषा को समृद्ध करने के अथक प्रयास किये। राहुल जी पर शोध करने के पश्चात् तो हिन्दी भाषा के प्रति मेरा रुझान और अधिक बढ़ता गया। इतिहास विषय में हिन्दी भाषा में श्रेष्ठ पुस्तकों का अभाव देखते हुये मैंने भी हिन्दी भाषा में ही पुस्तकों का लेखन आरंभ कर दिया। मेरे द्वारा लिखी गई 32 पुस्तकों में से एक पुस्तक 'इतिहास लेखनः अवधारणा, विधाएँ एवं साधन' तो न केवल हिन्दी भाषी प्रदेशों में अपितु कुछ अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी लोकप्रिय है। हम यदि पूरे मनोयोग से अच्छा कार्य अपनी मातृभाषा में करेंगे तो, उसे अन्य भाषा भाषी लोग भी सम्मान देंगे। राहुल सांकृत्यायन की कृति 'वोल्गा से गंगा' तो इतनी अधिक लोकप्रिय थी कि उसका कई भाषाओं में अनुवाद हुआ।

यदि हमें उन्नति करना है तो किसी की नकल करके हम शीर्ष पर विराजमान नहीं हो सकते। चीन का उदाहरण लें, उसने अंग्रेजी भाषा की दासता स्वीकार नहीं की। वह आज अपनी मातृभाषा के दम पर उन्नति कर रहा है। पश्चिमी देशों को सशक्त चुनौती दे रहा है। आज भी मुंशी प्रेमचन्द्र, जयशंकर प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' एवं सुमित्रनन्दन पंत प्रासंगिक बने हुये हैं। इन्हें सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाने वाली हिन्दी ही है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'मध्य एशिया का इतिहास' दो खण्डों में लिखा। इसके लिये उन्हें 1958 ई. में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया। इस कृति के बारे में प्रख्यात साहित्यकार नामवर सिंह ने कहा है- 'राहुलजी ने एक अद्‌भुत ग्रन्थ लिखा था। इसकी टक्कर का ग्रन्थ आज अंग्रेजी में भी नहीं है'। प्रख्यात इतिहासकार विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने भी लिखा था कि 'यह इतनी श्रेष्ठ कृति है कि इसे पढ़ने के लिये गैर हिन्दी के इतिहासविदों को भी हिन्दी सीखनी पड़ेगी'। आज हमें इन साहित्यकारों से सीख लेनी चाहिये। अपना श्रेष्ठ ज्ञान हिन्दी में लिखकर विदेशियों को मजबूर करना चाहिये कि वे इस ज्ञान को जानने के लिए हिन्दी सीखें। सर विलियम जोन्स को, मैक्समूलर महोदय को, हमारे प्राचीन वेद वाङ्मय को पढ़ने के लिये, उसका अनुवाद करने के लिये संस्कृत सीखना पड़ी थी। हम अपनी योग्यता द्वारा यह इतिहास पुनः दोहरा सकते हैं। हमारी हिन्दी भाषा का शब्दकोश अत्यन्त ही व्यापक एवं उन्नत है। इसके बल पर हम चाहें तो विश्व को सशक्त चुनौती प्रस्तुत कर सकते हैं। आज हमारी हिन्दी फिल्में अपनी श्रेष्ठता के कारण समस्त भारत में ही नही विदेशों में भी लोकप्रिय होती जा रही हैं।

21 जून को विश्व योग दिवस मनाया गया। भारतीय योग की श्रेष्ठता समस्त विश्व ने स्वीकार की। ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि योग हमारी भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण धरोहर है। हम अपनी भाषा के द्वारा, अपनी संस्कृति के द्वारा विश्व को भारतीय महानता का लोहा मनवाने की क्षमता रखते हैं। हम पश्चिमी भाषा की, पश्चिमी संस्कृति की नकल करके सफलता तो प्राप्त कर सकते हैं। मगर महान् बनने के लिये हमें अपनी हिन्दी भाषा एवं संस्कृति के माध्यम से ही कार्य करना होगा। आज विश्व को यह अहसास हो चुका है कि ज्ञान के मामले में भारत अत्यधिक आगे है। यदि हम अपने ज्ञान का प्रदर्शन अपनी हिन्दी भाषा में लेखबद्ध करें तब ही हम अपनी संस्कृति को, अपनी मातृभाषा हिन्दी को सम्मान दिला सकते है। हम अपनी भाषा का सम्मान करेंगे तब ही दूसरे उसका सम्मान करेंगे। मात्र हिन्दी दिवस मनाने से, हिन्दी सप्ताह मनाने से, केन्द्रीय कार्यालयों में हिन्दी प्रकोष्ठ गठित करने से कुछ नहीं होगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम दैनिक प्रयोग में हिन्दी का उपयोग करना आरंभ करें। हिन्दी में ही सोचें, हिन्दी में ही बोलें एवं हिन्दी में ही सृजन करें। एक बात हमें हमेशा याद रखनी होगी कि भाषा मात्र ज्ञान संप्रेषण का माध्यम है यह ज्ञानी होने का प्रतीक कदापि नहीं है। यदि हम ऐसा कर पाये तब ही हमारा हिन्दी दिवस भी सार्थक होगा, और हिन्दी प्रकोष्ठों का गठन करना भी सार्थक होगा। आईये हम प्रण करें कि महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की भाँति अपनी सृजन शक्ति द्वारा विदेशियों को हिन्दी भाषा सीखने पर बाध्य करने का अथक प्रयास करेंगे। हम अपनी मातृभाषा हिन्दी पर अभिमान करना आरंभ कर दें। हिन्दी का सम्मान करना आंरभ कर दें। साबित कर दें कि हम, हमारी भाषा हिन्दी, हमारी संस्कृति श्रेष्ठ थी, श्रेष्ठ है और श्रेष्ठ ही रहेगी। ऐसा करके हम 'मेक इन इंडिया' का स्वप्न भी शीघ्र ही साकार कर सकते हैं।

असोसिएट प्रोफ़ेसर
इतिहास विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश-470003
मो. 9425635675

गोवा : भाषाई संरचना, पर्यटन और हिंदी

—राकेश शर्मा

गोवा राज्य प्राचीन काल में गोपकपत्तन, गोपकपुरी, गोमांतक, आदि कई नामों से विख्यात रहा है। सन 1498 में वास्कोगामा द्वारा भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज के बाद कई पुर्तगाली यात्री में भारत पहुँचे। 25 नवम्बर, 1510 में एल्फान्सो द अल्बुकर्क ने विजय नगर के एक सरदार की सहायता से गोवा पर आक्रमण करके इस पर कब्ज़ा कर लिया। भारत के स्वतंत्र होने के बाद भी गोवा पुर्तगालियों के कब्जे में रहा, किन्तु पुर्तगाली शासक गोआवासियों की अकांक्षाओ को पूरा नहीं कर पाए और अंततः 19 दिसंबर, 1961 को भारतीय सेना ने गोवा को मुक्त करा लिया। इसके साथ दमन और दीव को मिलाकर केन्द्रशासित प्रदेश बनाया गया। 10 अगस्त, 1987 को गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया तथा दमन और दीव को अलग केन्द्रशासित प्रदेश बना दिया गया।

भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी किनारे पर स्थित गोआ एक छोटा किन्तु बहुत ही सुन्दर राज्य है। यह उत्तर में महाराष्ट्र और दक्षिण छोर से कर्नाटक से घिरा हुआ है। गोवा भारत में नहीं विश्व में एक ऐसे स्थान का नाम है जिससे हर कोई सुपरिचित है तथा प्रत्येक के मन में यह इच्छा होती है कि वो गोवा का पर्यटन अवश्य करे। गोवा या गोआ (कोंकणीः गोंय), क्षेत्रफल के हिसाब से भारत का सबसे छोटा और जनसँख्या के हिसाब से चौथा सबसे छोटा राज्य है। पूरी दुनिया में गोवा अपने खूबसूरत समुद्री तटों और प्रसिद्ध स्थापत्य के लिये जाना जाता है। पुर्तगालियों ने गोवा पर लगभग 450 सालों तक शासन किया और दिसंबर 1961 में सैनिक कार्यवाही के बाद यह भारतीय प्रशासन को सौंपा गया। अपनी स्वतंत्रता के पश्चात् गोवा ने बहुत विकास किया है तथा एक सुंदर, स्वच्छ एवं सुशिक्षित राज्य के रूप में भारत में अपनी पहचान बनाई है।

महाभारत में गोवा का उल्लेख गोपराष्ट्र यानि गाय चराने वालों के देश के रूप में मिलता है। दक्षिण कोंकण क्षेत्र का उल्लेख गोवाराष्ट्र के रूप में पाया जाता है। संस्कृत के कुछ अन्य पुराने स्त्रोतों में गोवा को गोपकपुरी और गोपकपट्टन कहा गया है जिनका उल्लेख अन्य ग्रंथों के अलावा हरिश्वांम और स्कंद पुराण में मिलता है। गोवा को बाद में कहीं-कहीं गोअंचल भी कहा गया है। अन्य नामों में गोवे, गोवापुरी, गोपकापाटन और गोमंत प्रमुख हैं। टोलेमी ने गोवा का उल्लेख ईसवी सन 200 के आस-पास गोउबा के रूप में किया है। अरब के मध्युगीन

यात्रियों ने इस क्षेत्र को चंद्रपुर और चंदौर के नाम से इंगित किया है जो मुख्य रूप से एक तटीय शहर था। जिस स्थान का नाम पुर्तगाल के यात्रियों ने गोवा रखा वह आज का छोटा सा समुद्र तटीय शहर गोअ-वेल्हा है। बाद मे उस पूरे क्षेत्र को गोवा कहा जाने लगा जिस पर पुर्तगालियों ने कब्जा किया।

जनश्रुति के अनुसार गोवा, जिसमें कोंकण क्षेत्र भी शामिल है और जिसका विस्तार गुजरात से केरल तक बताया जाता है, की रचना भगवान परशुराम ने की थी। कहा जाता है कि परशुराम ने एक यज्ञ के दौरान अपने बाणों की वर्षा से समुद्र को कई स्थानों पर पीछे धकेल दिया था और लोगों का कहना है कि इसी वजह से आज भी गोवा में बहुत से स्थानों का नाम वाणावली, वाणस्थली इत्यादि हैं। उत्तरी गोवा में हरमल के पास आज भूरे रंग के एक पर्वत को परशुराम के यज्ञ करने का स्थान माना जाता है।

गोवा के लंबे इतिहास की शुरुआत् तीसरी सदी ईसा पूर्व से शुरु होता है जब यहाँ मौर्य वंश के शासन की स्थापना हुई थी। बाद में पहली सदी के शुरुआत में इस पर कोल्हापुर के सातवाहन वंश के शासकों का अधिकार स्थापित हुआ और फिर बादामी के चालुक्य शासकों ने इस पर 580 ईसवी से 750 ईसवी तक राज किया। इसके बाद के सालों में इस पर कई अलग अलग शासकों ने अधिकार किया। 1312 ईसवी में गोवा में पहली बार दिल्ली सल्तनत के अधीन हुआ लेकिन उन्हें विजयनगर के शासक हरिहर प्रथम द्वार वहाँ से खदेड़ दिया गया। अगले सौ सालों तक विजयनगर के शासकों ने यहाँ शासन किया और 1469 में गुलबर्गा के बहामी सुल्तान द्वारा फिर से दिल्ली सल्तनत का हिस्सा बनाया गया। बहामी शासकों के पतन के बाद बीजापुर के आदिल शाह का यहाँ कब्जा हुआ जिसने गोअ-वेल्हा को अपनी दूसरी राजधानी बनाई।

गोवा की भाषाई संरचना

दमन और दीव राजभषा अधिनियम, 1987 के अनुसार देवनागरी लिपि में कोंकण को गोवा की एकमात्र सरकारी भाषा का स्थान दिया गया था। परंतु इसमें यह भी प्रावधान किया गया कि सभी या किसी शासकीय प्रयोजनों के लिए मराठी का इस्तेमाल किया जा सकता है। पुर्तगाली औपनिवेशिक शासन के दौरान गोवा की एकमात्र सरकारी भाषा पुर्तगाली थी। परंतु अब यह ज्यादातर केवल बुजुर्ग पुर्तगाली शिक्षित आबादी द्वारा ही बोली जाती है। पुर्तगाल शासनकाल में यह सरकारी कामकाज की भाषा हुआ करती थी परंतु गोवावासियों के मन-मस्तिष्क में कोई विशेष प्रभाव बनाने में यह भाषा असफल हुई। परिणामस्वरुप गोवा से पुर्तगालियों के जाने के बाद इसका प्रभाव लगभग समाप्त हो गया है। राज्य सरकार ने मराठी में प्राप्त पत्राचार को मराठी में उत्तर देने की एक नीति निर्धारित की है। यहाँ रोमन लिपि में लिखे जाने वाली कोंकणी को राजभाषा का दर्जा प्रदान करने की माँग भी वर्षों से की जा रही है और एकमात्र आधिकारिक भाषा के रूप में कोंकणी रखने के लिए व्यापक समर्थन नहीं है। एक मौखिक भाषा के रूप में कोंकणी राज्य में 61 प्रतिशत लोगों द्वारा एक मूल भाषा के रूप

में बोली जाती है लेकिन लगभग सभी गोवावासी कोंकणी बोलते हैं और समझ सकते हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार राज्य में अन्य भाषाई अल्पसंख्यकों मराठी (19%), कन्नड़ (7%), हिंदी (5%), और उर्दू (4%) हैं। हालाँकि कोंकणी को राज्य की आधिकारिक भाषा का दर्जा प्राप्त है परंतु अधिकतर सरकारी कामकाज में अंग्रेज़ी का ही प्रयोग होता है। यहाँ तक की यहाँ रास्तों पर लगभग सभी साईनबोर्ड, तथा कार्यालयों में नामपट्ट आदि केवल अंग्रेज़ी में है। सरकारी कार्यालयों में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रपत्र, वेबसाईट आदि भी केवल अंग्रेज़ी में हैं। पणजी में स्थित 'गोवा कोंकणी एकादमी' कोंकणी के प्रचार-प्रसार हेतु कार्यरत संस्था है। पणजी में ही स्थित 'कला अकादमी' तथा मडगाँव में स्थित 'रवीन्द्र भवन' मराठी, कोंकणी, हिंदी तथा अंग्रेज़ी इन सभी भाषाओं में नाटक, कवि सम्मेलन तथा अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों का आयोजन समय-समय पर करते रहते हैं।

गोवा में हिंदी

यह सर्वविदित है कि भारत के पर्यटन नक्शे पर गोवा को विशिष्ट स्थान प्राप्त है तथा वर्ष भर यहाँ पूरे भारत ही नहीं विश्व के विभिन्न स्थानों से पर्यटकों की आवाजाही लगी रहती है। जिस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने अंग्रेज़ी का विशिष्ट प्रभाव गोवा पर छोड़ा है उसी प्रकार पर्यटन ने इस राज्य में हिंदी के विकास में भरपूर मदद की है। यहाँ के स्थानीय निवासी बताते हैं कि 30-40 वर्ष पहले गोवा में हिंदी एक अनजानी भाषा के रूप में परिचित थी परंतु पिछले दो-तीन दशकों में यहाँ के समाज की भाषाई संरचना में बहुत परिवर्तन आया है। यहाँ के सामाजिक परिवेश से जहाँ पुर्तगाली भाषा लगभग विलुप्त हो गई है वहीं मराठी और और हिंदी का निरंतर विकास हुआ है। हालाँकि लिखित हिंदी या हिंदी साहित्य के प्रति यहाँ के लोगों में कोई विशेष रुचि नहीं है और उनका झुकाव अंग्रेज़ी साहित्य और अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं की ओर अधिक रहा है। परंतु यहाँ हिंदी के प्रति कोई विरोध या विद्वेश की भावना नहीं हैं। क्योंकि यहाँ पर्यटन एवं उससे संबंधित व्यापारों से जुड़े हुए लोग यह भलीभाँति जानते हैं कि हिंदी के बिना उनका काम नहीं चल सकता।

पर्यटन तथा हिंदी का अंतर्संबंध

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि भारत में पर्यटन उद्योग एवं हिन्दी भाषा का परस्पर एक अतंर्संबंध है। भारत में पर्यटन उद्योग एवं हिंदी एक दूसरे के परिपूरक बन गए हैं तथा एक दूसरे के सहयोग से इनका विकास हुआ है। गोवा भी इसका अपवाद नहीं है। पर्यटन की भाषा के रूप में विकसित होती हिंदी ने गोवा में इस उद्योग के विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गोवा में वर्ष भर पूरे गोवा से पर्यटक आते हैं। इनमें से हिंदी भाषी पर्यटकों के अलावा दक्षिण तथा अन्य भाषा प्रांतों से आए पर्यटक भी स्थानीय व्यापारियों, टैक्सीचालकों, टूरिस्ट गाईड आदि से बातचीत हेतु हिंदी का ही प्रयोग करते हैं। पणजी में मांडोवी नदी पर चलने वाले क्रुज पर संचालक भी कार्यक्रम संचालन के दौरान पर्यटकों की माँग पर अंग्रेज़ी के

साथ-साथ हिंदी का प्रयोग करते हैं। हालाँकि यह हिंदी केवल मौखिक रूप तक ही सीमित हो गई है। लिखित में सभी जगह अंग्रेज़ी का आधिपत्य है। पर्यटन हेतु ब्रोसर आदि भी केवल अंग्रेज़ी में ही छापे जाते हैं क्योंकि इसके इए पर्यटकों की ओर से हिंदी में प्रिंटेड ब्रोसर या सूचना पत्रक आदि की कोई मांग नहीं की जाती। गोवा में बोले जाने वाली हिंदी पर मराठी और कोंकणी का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। जैसे छोटे-बड़े सभी के लिए 'तू' का प्रयोग, दायें या बायें जाने के लिए ''लैफ्ट मार या राइट मार'' तथा आदरसूचक संबोधन के लिए 'सेठ' या 'साहब' की जगह कोंकणी का आदरसूचक 'पातरोन' शब्द का प्रयोग आदि।

हिंदी शिक्षण तथा प्रचार-प्रसार

यहाँ की स्कूलों में बैठक के अलावा गोवा राज्य बोर्ड के पाठ्यक्रम प्रचलित हैं। इन तीनों पाठ्यक्रमों में हिंदी शामिल है तथा कक्षा 10 तक सभी छात्रों को हिंदी पढ़ाई जाती है। हालाँकि अधिकतर स्कुलों में हिंदी की पढ़ाई कक्षा 1 से प्रारंभ ना होकर कक्षा 4 से प्रारंभ होती है जिससे यहाँ के बच्चों में हिंदी की व्याकरणिक तथा साहित्यिक पकड़ इतनी मजबूत नहीं हो पाती। जहाँ तक उच्च-शिक्षा का प्रश्न है, गोवा के सभी प्रमुख उच्च शिक्षा संस्थानों में हिंदी पठन-पाठन की व्यवस्था है जिनमें से गोवा विश्वविद्यालय, पार्वतीवाई चौगुले कॉलेज, कार्मेल कॉलेज, धेम्पे कॉलेज आदि प्रमुख हैं। परंतु नई पीढ़ी के छात्रों में हिंदी के प्रति कम होता रुझान चिंता का विषय है। भाषा संकाय के छात्र अंग्रेज़ी के बाद फ्रेंच तथा अन्य विदेशी भाषाओं को पढ़ने में अधिक रुचि रखते हैं जिसके पीछे का प्रमुख कारण आगे चलकर विकसित देशों में कैरियर की बेहतर संभावनाओं को तलाशना है।

गोवा में हिंदी के प्रचार-प्रसार हेतु कई छोटे संस्थान कार्यरत हैं। कई हिंदी प्रेमी अपने स्तर पर प्रयास कर इन संस्थानों के माध्यम से गोवा को हिंदी में लोकप्रिय बनाने की दिशा में प्रयासरत हैं। केंद्रीय हिंदी निदेशालय से आर्थिक सहायता प्राप्त निम्नलिखित दो संस्थान यहाँ हिंदी के प्रचार-प्रसार के कार्य में लगे हुए हैं :

1. गोमांतक राष्ट्रभाषा विद्यापीठ, मडगाँव पोस्ट बाक्स नं. 32, कोमुनिदादे बिल्डिंग, गोवा-403601;
2. प्रयास, गोवा, बी-01, प्रीति अपार्टमेंटस, वसुधा कालोनी, बाम्बोलिम परिसर, गोवा-403202

गोवा में कई हिंदी समाचार पत्र उपलब्ध हैं जिनमें से नवभारत टाइम्स, राजस्थान पत्रिका आदि प्रमुख है। हालाँकि ज्यादातर समाचार पत्र मुंबई से गोवा कुछ देर में पहुँचते हैं अतः इनकी पहुँच केवल पणजी, मडगाँव तथा वास्को जैसे शहरों तक ही सीमित है। हाल ही में श्री कोंजेटी रोशय्या द्वारा वास्को-दा-गामा से 'गोवा ज्योति' नामक हिंदी का समाचार पत्र प्रकाशित किया जा रहा है जोकि गोवा से प्रकाशित हिंदी का एकमात्र समाचार पत्र है। इसका ई-पैपर www-goajyoti-पद नामक वेबसाइट पर उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त केंद्र सरकार के अधीन निम्नलिखित तीन नगर राजभाषा कार्यान्वयन समितियां भी अपने स्तर पर राजभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार के कार्य में लगी हुई हैं।

1. उत्तर गोवा नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, ई.डी.सी कॉम्लेक्स, पाटो प्लाजा, पणजी
2. दक्षिण गोवा नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, गोवा.शिपयार्ड लिमिटेड़, वास्को-दा-गामा
3. मडगाँव नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, ई.डी.सी कॉम्लेक्स, पाटो प्लाजा, पणजी

यह नगर राजभाषा कार्यान्वयन समितियाँ विविध कार्यशालाओं के माध्यम से केंद्र सरकार के कर्मचारियों के अतिरिक्त स्कूली छात्रों हेतु कंप्यूटर पर हिंदी में कार्य करने का प्रशिक्षण, हिंदी की प्रतियोगिताएँ, कवि सम्मेलन आदि का आयोजन समय-समय पर करती रहती हैं। इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट है कि हिंदीत्तरभाषी प्रदेश होते हुए भी पिछले कुछ दशकों में गोवा में हिंदी का निरंतर विकास हुआ है तथा भविष्य में इस राज्य में हिंदी के उज्ज्वल भविष्य की आशा की जा सकती है। इसके लिए गोवा के हिंदी विद्वानों तथा संस्थानों को निरंतर प्रयास करने की आवश्यकता है जिससे इस राज्य में अंग्रेज़ी, कोंकणी तथा मराठी के अलावा हिंदी के मौखिक एवं साहित्यिक स्वरूप की भी उत्तरोत्तर प्रगति सुनिश्चित की जा सके।

हिन्दी अधिकारी
सीएसआईआर राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान
दोना पावला, गोवा - 403004
मो. 9326507675

अनुवाद का समाजशास्त्र

–सूर्यनारायण रणसुभे

लेखन चाहे वह किसी भी प्रकार का हो- सृजनात्मक, वैचारिक अथवा दार्शनिक- हवा में से निर्माण नहीं होता। उसका गहरा सम्बन्ध समकालीन समाज-व्यवस्था के साथ होता है। मात्र लेखन के सन्दर्भ में ही नहीं अपितु इस विश्व में घटित होने वाली किसी भी घटना का सम्बन्ध विश्व के पर्यावरण से, अथवा मानवी जीवन से होता ही है। मनुष्य की जो कामना शक्ति है, उसका भी सम्बन्ध, मनुष्य जिस व्यवस्था में जीते रहता है, उसके साथ होता है। खुद को 'स्वायत्तयः स्वतन्त्र' घोषित करने वाली संस्थाएँ, क्रियाएँ अथवा जो घटनाएँ होती हैं, उनका संबंध भी समकालीन प्राकृतिक परिवेश से, वातावरण से, व्यवस्था से होता ही है। कई बार तो ये सम्बन्ध बहुत स्पष्ट रूप से महसूस किए जा सकते हैं और कई बार ये सम्बन्ध इतने सूक्ष्म स्तर पर होते हैं कि उसका अहसास सहजता से नहीं हो पाता। इस कारण जब मैं अनुवाद प्रक्रिया का सम्बन्ध इस देश की मानसिकता से और यह मानसिकता जिस वर्णव्यवस्था से बनी है, उससे जोड़ता हूँ, तब मेरे सम्मुख एक पूरी परम्परा होती है। एक ऐसी परम्परा जो श्रेष्ठता कनिष्ठता की श्रेणी आबद्ध है। इस कारण यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या अनुवाद मात्र एक भाषिक प्रक्रिया है अथवा एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है? सृजनात्मक लेखन का सम्बन्ध जिस प्रकार समकालीन समाज-व्यवस्था के साथ होता है - उस काल की आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक परिस्थिति के साथ होता है – ठीक उसी प्रकार का सम्बन्ध अनुवाद प्रक्रिया का भी होता है? इस प्रश्न के उत्तर की खोज करने हेतु जब मैं इस देश की परम्परा की, इतिहास की जांच पड़ताल करने लगा, तब मैं जिन निष्कर्षों पर पहुँचा, उनको अध्येताओं तक पहुँचाने का यह विनम्र प्रयास है। यह वास्तविकता है कि इस देश के पास अनुवाद की कोई ऐसी परम्परा नहीं है। आश्चर्य इस बात का कि जब-जब वर्णव्यवस्था के विरोध में आन्दोलन होने लगते हैं, समता का जब-जब आग्रह होने लगता है, विषमतावादी समाज-व्यवस्था के विरोध में जब विद्रोह की मशाल जलाई जाती है, यहाँ के सृजन में मौलिकता आने लगती है। अन्य भाषाओं में स्थित उत्कृष्ट कृतियों के अनुवाद का प्रयत्न शुरू हो जाता है। यह ऐसा क्यों हो जाता है, इसकी जड़ में जाने का प्रयास करना होगा। अर्थात् अनुवाद-प्रक्रिया के मूल में कार्यरत प्रवृत्तियों की खोज करना होता है।

अनुवाद की प्रेरणा : जिज्ञासा

अनुवाद के मूल में औरों के जीवन सम्बन्धी, विचारों सम्बन्धी, संस्कृति सम्बन्धी जिज्ञासा की जरूरत होती है। औरों को समझ लेने की उदार वृत्ति की आवश्यकता होती है। मेरे परिसर में जीनेवाले-चाहे वे जिस किसी धर्म, जाति, वंश, लिंग के हो, वे मेरे जैसे ही मनुष्य हैं, मनुष्य के नाते उनमें और मुझमें बहुत बड़ी समानता है और इसी कारण उन्हें जान लेना मेरा कर्त्तव्य है — इस प्रकार की मानसिकता यहाँ कार्यरत होती है। औरों के प्रति मात्र जिज्ञासा वृत्ति से ही काम नहीं चलेगा तो अनुवादक जिस भाषिक पर्यावरण में जीते रहता है, उसके प्रति भी उसके मन में जबरदस्त ऐसी जिज्ञासा की जरूरत होती है। सृजनात्मक लेखन के मूल में भी ऐसी ही जिज्ञासा होती है। बकौल राजेन्द्र यादव के प्रत्येक श्रेष्ठ लेखक वास्तव में एक गुप्तचर ही होता है। जो घटित हुआ अथवा जो घटित होने जा रहा है, अथवा जिसके घटित होने की सम्भावना है, उसके प्रति उसके मन में अपार जिज्ञासा होती है। वैज्ञानिक अनुसन्धानों के मूल में भी इसी प्रकार की जिज्ञासा कार्यरत होती है। इसी कारण तो सृजनात्मक लेखक औरों को जान लेने की कोशिश करते रहता है। मुक्तिबोध की कविता की एक पंक्ति है, - 'मैं हरेक के भीतर से गुजरना चाहता हूँ।' सृजनात्मक लेखक औरों के सुख दुःखों को खुद के सुख दुःख समझकर उन्हें अनुभूत करने का तथा उस अनुभूति को शब्द रूप देने का प्रयत्न करते रहता है। कमलेश्वर ने लिखा कि हम लेखक तो अपने पात्रों की यातनाओं के सहयात्री हैं। अनुवादक के मन में भी अपने तथा अन्य भाषाओं के लोगों के जीवन के प्रति जबरदस्त ऐसी जिज्ञासा होनी चाहिए। अन्य भाषा की रचनाओं के माध्यम से जब वह उस जीवन को आत्मसात करता है, तब उसे लगता है कि इसे मैं अपनी भाषा के लोगों तक पहुँचाऊँ और इसी कारण वह अनुवाद हेतु सक्रिय हो जाता है। इसका अर्थ हुआ कि 'औरों के प्रति जिज्ञासा की वृत्ति' ही किसी भी सृजनात्मक लेखक की अथवा अनुवाद प्रक्रिया की मूल प्रेरणा होती है। संवेदनशील समाज का यह प्रमुख लक्षण होता है कि वह औरों के प्रति कितना जिज्ञासु है। औरों के जीवन के प्रति, औरों की संस्कृति के प्रति, औरों के ज्ञान के प्रति। ऐसी जिज्ञासा वहीं सम्भव है, जहाँ जीवन के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण की परम्परा होती है।

परन्तु जो समाज व्यवस्था बन्द होती है, अनेक टुकड़ों-टुकड़ों में बँटी होती है, जहाँ श्रेष्ठता-कनिष्ठता की भावना काफी गहरे रूप में होती है, वहाँ ऐसी 'जिज्ञासा' वृत्ति का अभाव होता है। उस समाज में जो तथाकथित निम्न, शूद्र, पिछड़े होते हैं, उनके प्रति उपेक्षा या तिरस्कार का भाव होता है। जहाँ ऐसी मानसिकता पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकसित होती गई हो, वहाँ औरों के प्रति जिज्ञासा की वृत्ति की खत्म हो जाती है। औरों के प्रति जहाँ 'जिज्ञासा' ही न हो, वहाँ सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को स्पर्श करनेवाला लेखक नहीं हो पाता। वहाँ अनुवाद की प्रक्रिया भी शुरू नहीं हो सकती। क्योंकि धीरे-धीरे यह समाज अपनी-अपनी जाति तक सिमट जाता है। अपनी-अपनी जाति के द्वीप में समाज जीने लगता है। औरों से निकट का सम्पर्क ही टाला जाता है। इस कारण औरों के प्रति जिज्ञासा की वृत्ति भी खत्म हो जाती है।

समता की दृष्टि

अनुवाद हेतु समता की दृष्टि की जरूरत होती है। मनुष्य समाज में जन्मना न कोई श्रेष्ठ है और न कोई कनिष्ठ। सभी ओर मनुष्य एक ही प्रकार के हैं। प्रत्येक भाषिक समाज की भले ही अपनी कुछ विशिष्टताएँ हो, प्रत्येक मनुष्य-समूह की अथवा व्यक्तिगत स्तर पर जीते समय प्रत्येक की अपनी सीमाएँ होती भी हैं। मनुष्य समूह कुछ बातों में तो समान है ही। विशेषतः प्रेम, दुःख, ईर्ष्या, स्वार्थ और इसी प्रकार की भाव-भावनाओं के सन्दर्भ में मनुष्य में विलक्षण समानता है। मनुष्य में स्थित इस समानता पर जिसकी दृष्टि होती है, उसी के द्वारा श्रेष्ठ रचनाओं का सृजन होता है और इस प्रकार की समता की दृष्टि जिस समाज में होती है, वहाँ अनुवादक के लिए अनुकूल ऐसा वातावरण अपने आप तैयार होता जाता है। अन्य मनुष्य-समूह या समाज के प्रति जहाँ आदर की भावना होती है, वहीं अनुवाद के महत्त्व को भी स्वीकारा जाता है।

अनुवाद का अर्थ है खुद को तराशने और तलाशने की प्रक्रिया

अन्य भाषिक समूह में ज्ञान-विज्ञान, साहित्य कला आदि क्षेत्रों में जो कार्य चल रहा है, इसे जान लेने हेतु अनुवाद की जरूरत होती है। अन्य भाषिक समूह में अभिव्यक्ति के क्षेत्र में क्या चल रहा है, इसे जान लेने का एक दूसरा अर्थ यह होता है कि खुद की सीमाओं को जान लेना। औरों के इस प्रकार के प्रयत्न की ओर जब मनुष्य संवेदनशील मन से देखने लगता है तब उसे अपनी सीमाओं का अहसास होने लग जाएगा। ऐसी प्रक्रिया वहीं सम्भव है जहाँ मनुष्यता की समता की भावना विशुद्ध रूप में कार्य कर रही हो। जहाँ औरों के प्रति कुतूहल होता है, जिज्ञासा होती है और खुद की ओर तटस्थता से, विवेक से देखने की इच्छा होती है, वहाँ औरों के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं होती।

जहाँ वर्णश्रेष्ठत्व की भावना होती है, वहाँ औरों के प्रति तुच्छता की भावना ही होती है। 'स्व' के प्रति, अपने धर्म के प्रति, अपने पूर्वजों के प्रति कुछ सिद्धान्त बनाना, या कुछ निष्कर्ष निकालना तथा उन्हें सर्व सामान्य के मन-मस्तिष्क पर सतत थोपते जाना; परिणामतः अन्यों के प्रति उनमें अपने आप तुच्छता की अथवा उपेक्षा की भावना तैयार होती रहती है। इस भावना को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संस्कारित करते जाना। इस प्रकार धीरे-धीरे 'स्व के प्रति अहंकार तथा औरों के प्रति उपेक्षा का भाव तैयार होते जाएगा। परिणामतः भीतर की 'जिज्ञासा' वृत्ति ही नष्ट हो जाती है और इसी कारण औरों की किसी भी बात को सुनने की वृत्ति नहीं होती है, स्वीकार करने की बात तो बहुत दूर रही। अनुवाद के लिए यह घातक स्थिति है।

अनुवाद के कारण अप्रत्यक्ष रूप से एक और प्रक्रिया घटित होती रहती है और वह है– सम्बन्धित भाषिक समूह को अपनी सीमाओं का अहसास होते जाता है। इस प्रकार की सीमा को वे जान न पाएँ, स्थायी रूप से उन्हें श्रेष्ठत्त्व अथवा हीनता के नशे में ही झूमते रखना-यही एक मात्र उपाय तथाकथित्त्व श्रेष्ठत्त्व को बनाए रखने वालों के पास होता है और इसी काल

में लोग ऐसे शास्त्र वचन निर्माण करते हैं कि समुद्र उल्लंघन पाप है, औरों के जीवन में झाँकना अनैतिक है, औरों की भाषा सीखने का अर्थ है भ्रष्ट हो जाना। औरों के धर्म ग्रंथों को पढ़ना नहीं चाहिए, औरों के प्रति कोई जिज्ञासा न रखें। अपनी-अपनी जातियों के द्वीप पर प्रत्येक जाति के लोग, सुरक्षित रूप से जीते रहें। यही सहिष्णुता है, यही धर्म-साधना है। अन्य धर्म तथा अन्य भाषी समूहों की तो जाने दीजिए, एक वर्ण का अथवा एक जाति का दूसरे वर्ण या जाति में दखल देना भी यहाँ ठीक नहीं माना जाता। अन्य जाति के लोगों के सुख-दुःख में भागीदारी करने की बात तो यहाँ सोची भी नहीं जाती। प्रत्येक की अपनी लक्ष्मण-रेखा यहाँ खींच ली गई है। उसका उल्लंघन कोई न करें-इस प्रकार के अलिखित संकेत यहाँ हैं। इस कारण मुझ जैसा जब मराठी साहित्य पर लिखता-बोलता है तब मराठी वाले कहते हैं आपके अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र हिन्दी है फिर मराठी में आप क्यों घुसपैठ कर रहे हैं? अथवा कोई डॉक्टर अथवा इंजीनियर, अथवा वैज्ञानिक, अथवा व्यापारी साहित्य-संस्कृति पर बोलने लिखने लगा कि इस क्षेत्र के लोग बेचैन हो जाते हैं। यह वही वर्णवादी मानसिकता है जो यह आग्रह करती है कि आपका जो क्षेत्र है, उसके बाहर, निकलकर न आपको सोचना चाहिए और न कुछ करना चाहिए। यहाँ प्रत्येक पर लक्ष्मण रेखाएँ थोपी गई हैं। ऐसी अवस्था में अनुवाद को प्रतिष्ठा प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

अनुवाद वास्तव में एक प्रकार का दर्पण होता है। हम क्या हैं, कहाँ हैं- इसे जान लेने का यह एक माध्यम है— अनुवाद श्रेष्ठत्त्व और विषमता के विरोध की प्रक्रिया है। ज्ञान-विज्ञान, विचार और अनुभूति के क्षेत्र में किस भाषा में क्या चल रहा है— इसे अनुवाद से जाना जा सकता है। प्रकारांतर से अनुवाद के कारण उस-उस भाषिक समूह को उपरोक्त क्षेत्र में स्थित अपनी सीमाओं का अहसास होने लगता है। इसके अलावा अपने भीतर का उत्कृष्ट क्या है, अपने पूर्वजों की अथवा समकालीनों की सीमाएँ क्या हैं अथवा उनके शक्ति स्थान क्या हैं— इसकी जानकारी भी प्राप्त की जाती है।

मेरी भाषा के साहित्य की सीमाएँ कहाँ पर है? उसे किस प्रकार समृद्ध किया जा सकता है? इसका अहसास भी अनुवाद से होने लगता है। दर्पण में हम अपने चेहरे को देखते रहते हैं, वह इसीलिए न कि कहीं पर कोई दाग तो नहीं है? अपना चेहरा आकर्षक तथा प्रफुल्लित कैसे रख पाएँगे इस सम्बन्ध में मनुष्य विचार करता रहता है और जरूरी हो तो उपचार भी कर लेता है। ठीक इसी प्रकार का कार्य अनुवाद द्वारा सम्भव हो पाता है।

परन्तु इसमें एक खतरा है। यहाँ दर्पण सार्वजनिक स्थान पर प्रदर्शित है। इसमें औरों के भी चेहरे दिखलाई देने की सम्भावना होती है। तथाकथितों का श्रेष्ठत्त्व खतरे में आने की सम्भावना होती है और इसी कारण अनुवाद रूपी दर्पण यहाँ लाएँगे ही नहीं ऐसी कोशिश सनातनी करते रहते हैं। इसके प्रमाण रूप में हम अपने इतिहास की ओर देख सकते हैं। अनुवाद की यहाँ घोर उपेक्षा की गई है। प्राचीन समाज व्यवस्था में अनुवाद की ओर कभी भी आत्मीयता

से देखा नहीं गया है। अपने श्रेष्ठत्त्व के भ्रम में जो भाषिक समूह जीना चाहता है, उसका भ्रम टूट सकने का खतरा अनुवाद के कारण सम्भव था और इसी कारण वे अनुवाद की ओर गम्भीरता से देखना नहीं चाहते।

वर्ण-व्यवस्था के कारण इस देश में अनुवाद की प्रक्रिया में गति नहीं आ पाई। सचमुच यह कठोर वास्तविकता है या मेरी निजी कल्पना-इसकी जाँच पड़ताल जरूरी है। इस जाँच पड़ताल हेतु अनुवाद की ऐतिहासिक परम्परा की ओर मुड़ना होगा। इस प्रकार के जाँच-पड़ताल से यह सिद्ध हो जाएगा कि जहाँ वर्ण-व्यवस्था नहीं है, वहाँ अनुवाद की परम्परा है और जहाँ वर्ण व्यवस्था है वहाँ अनुवाद-परम्परा नहीं है। इससे तीन मुख्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं–

1. जहाँ-जहाँ श्रेष्ठ-कनिष्ठता की श्रेणीबद्ध समाज रचना होती है, वहाँ अनुवाद की उपेक्षा हुई है,
2. जो समाज बन्द नहीं है, जहाँ वर्णव्यवस्था नहीं है, वहाँ सर्वाधिक अनुवाद होते रहे हैं।
3. जब-जब वर्णव्यवस्था के विरोध में आवाज ऊँची हुई है, जब-जब समतावादी व्यवस्था के प्रयत्न हुए हैं, वहाँ अनुवाद की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

इन तीनों निष्कर्षों को ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर प्रमाणित किया जा सकता है। जहाँ विषम समाज-व्यवस्था (वर्ण व्यवस्था) होती है, वहाँ अनुवाद नहीं होते

इस देश के प्राचीन लेखन की परम्परा को अगर खंगालते हैं तो संस्कृत भाषा तथा साहित्य की ओर जाना होगा। मैं संस्कृत का अध्येता नहीं हूँ। इस भाषा का मुझे प्राथमिक ज्ञान भी नहीं है। इस कारण इस भाषा और साहित्य का जिन्होंने वर्षों से अध्ययन किया है, और जो इस विषय के विशेषज्ञ माने जाते हैं, उनसे मैं पिछले 10-15 वर्षों से सम्पर्क करता रहा। उनसे मेरा एक ही प्रश्न रहा कि क्या संस्कृत में अनुवाद की भव्य-दिव्य-सदृढ़ ऐसी कोई परम्परा है अथवा नहीं? मराठी और संस्कृत के विद्वान डॉ. आ.ह. सोलुखे से मैंने यह प्रश्न पूछा था कि क्या ईसा पूर्व शती से संस्कृत में अनुवाद की परम्परा रही है? अपवाद की बात जाने दीजिए। मेरा प्रश्न था कि– ईस्वी पूर्व भारतीयों का सम्बन्ध ग्रीकों से आया? ग्रीक यहाँ आक्रमणकारी के रूप में आए? राजनीतिक स्तर पर उन दिनों क्या-क्या घटित हुआ यह इतिहास में दर्ज है। यहाँ के दार्शनिकों को सिकन्दर अपने साथ अपने देश ले गया यह भी एक ऐतिहासिक सच है। उस काल में ग्रीकों के दर्शन को जान लेने का प्रयत्न क्या भारत के विद्वानों ने किया? उनके ग्रंथों का संस्कृत में अनुवाद करने का क्या कोई प्रयत्न हुआ? ऐसे अनुवाद के क्या कुछ अवशेष प्राप्त होते हैं? ठीक इसके साथ मेरा यह भी प्रश्न था कि क्या यहाँ के विद्वानों ने समकालीन भारतीय दार्शनिक ग्रंथों का अनुवाद ग्रीक भाषा में किया था? हमारे पास का जो सर्वश्रेष्ठ था, उसे अनुवाद के माध्यम से औरों तक पहुँचाने का काम, क्या उस काल में हो रहा था? ठीक इसी प्रकार औरों के पास जो सर्वश्रेष्ठ था क्या, उसे अपनी भाषा में लाने का प्रयत्न हुआ था? प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक (14वीं शती तक) संस्कृत में अनुवाद की परम्परा प्राप्त नहीं होती- ऐसा अध्येताओं का निष्कर्ष है। मैं जिसे वर्णश्रेष्ठत्त्व का अहंकार कहता हूँ, वह इस

प्रकार प्रमाणित हो जाता है। औरों को समझ लेने की कोशिश नहीं, अथवा अपने पास का जो सर्वश्रेष्ठ है, जो उत्कृष्ट है, उसे औरों तक पहुँचाने का प्रयत्न नहीं— इसके मूल में कौन-सी वृत्ति काम कर रही होगी? यही वृत्ति न कि हम सर्वश्रेष्ठ हैं, औरों की समझ लेने की हमें कोई जरूरत नहीं। हमारा ज्ञान सर्वाधिक पवित्र है, उसे अन्य भाषा में रूपान्तरित किया ही नहीं जा सकता। इसका अनुवाद भी नहीं करना चाहिए। औरों तक उसे नहीं ले जाना चाहिए। वह हम तक ही मर्यादित रहे— यह किस वृत्ति का सूचक है?

'बाइबिल' तथा 'कुरान' के अनुवाद

विश्व में सर्वाधिक भाषाओं में 'बाइबिल' के अनुवाद हुए हैं। विश्व की प्रमुख भाषाओं में ही नहीं अनेक बोलियों में, आदिवासियों की भाषाओं में भी बाइबिल के अनुवाद प्राप्त हैं। बाइबिल में व्यक्त धर्म का संदेश विश्वभर के लोगों तक जाए-इस जिद्द से ये अनुवाद किए गए हैं। ऐसे अनुवाद करने वाले धर्म-प्रचारक सम्बन्धित प्रदेश में जाकर, वहाँ की भाषा आत्मसात् कर अपने इस धर्म ग्रंथ का अनुवाद उस भाषा या बोली में करते रहे। इतना ही नहीं, उस प्रदेश के लोगों की भाषा में प्राप्त लोकसाहित्य का, उनके धर्म ग्रंथों का, साहित्यादि प्रकारों का अनुवाद उन्होंने अपनी भाषा में किया। वे अपनी भाषा को भी समृद्ध करते जा रहे थे तथा उस नई भाषा को भी। कुरान के अनुवाद भी विश्व की सैकड़ों भाषाओं में उपलब्ध हैं। केवल मराठी में आज कुरान के तीन से अधिक अनुवाद उपलब्ध हैं। अनुवाद की यह परम्परा इस्लाम की स्थापना से ही शुरू हो जाती है।

विश्व की प्राचीनतम भाषा में से एक भाषा संस्कृत भी है। इस संस्कृत में प्राप्त वेदों-उपनिषदों के अनुवाद प्राचीन काल से क्या उपलब्ध है? सभी वेदों और उपनिषदों का सार जिसमें है उस 'भगवत गीता का अनुवाद क्या भारतीयों ने अन्य भाषाओं में किया था? प्राचीन काल से लेकर 14वीं, 15वीं शती तक भी इस प्रकार के प्रयत्न नहीं हुए हैं। भारतीयों को क्या अन्य भाषाएँ अवगत नहीं थी। विदेशी भाषा की बात तो जाने दीजिए, यहाँ की लोक भाषाओं में तो उन्होंने अनुवाद कहाँ किए हैं? प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद आम आदमी की भाषा में लाने का क्या यहाँ कभी प्रयत्न हुआ है? जनभाषा में अनुवाद का अर्थ हुआ 'जन तक ज्ञान पहुँचाना। 'जन तक आम आदमी तक या यूँ कहें अन्य वर्णो तक यह ज्ञान जाए ही नहीं ऐसी अगर उनकी इच्छा हो तो? फिर अनुवाद क्यों होगे? ग्रीकों के सम्पर्क में आने के बाद उनकी ओर का दर्शन तथा विज्ञान यहाँ के विद्वान अगर संस्कृत में ले आते तो ज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र में चित्र कुछ और ही दिखलाई देता। परन्तु यह सब वे करना ही नहीं चाहते थे। क्योंकि ऐसा करने से ज्ञान पर जिस एक वर्ण का एकाधिकार था वह समाप्त हो जाता और इसी कारण ऐसे प्रयत्न नहीं हुए, ऐसा निष्कर्ष अगर मुझ जैसा कोई निकालना चाहे तो क्या वह तर्क संगत नहीं है? क्योंकि लोकभाषा में अथवा बोली भाषा में संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद क्यों नहीं हैं— इसका उत्तर तो मिलना ही चाहिए।

इस्लाम के आगमन के बाद

इस्लाम सातवीं शती में दक्षिण में आया। उत्तर में उसका आगमन दसवीं शती के बाद हुआ। इस्लाम के साथ फारसी और अरबी भाषा भी आई। वहाँ के दार्शनिक 'सूफी भी यहाँ आए। भारतीयों ने इन दोनों भाषाओं पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया। केवल सत्ता के निकट जाने हेतु! फारसी राज्य प्रशासन की भाषा थी, इसलिए। आश्चर्य कि बात है कि अकबर के काल से ही अरबी-फारसी पंडितों ने भारतीयों के वेद, उपनिषद, पंचतंत्र, जातक कथा के अनुवाद बड़ी निष्ठा के साथ अपनी भाषा में (अरबी-फारसी) करते रहे। परन्तु अरबी-फारसी जानने वाले यहाँ के पंडितों को उनके ग्रंथों का संस्कृत में अनुवाद करने की इच्छा नहीं हुई। संस्कृत जाने दीजिए। वह पवित्र भाषा है– विदेशी ज्ञान का, साहित्य का अनुवाद उसमें करने से वह अपवित्र हो सकती थी– तो क्या इनके अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में सम्भव नहीं थे? इससे क्या सिद्ध हो रहा है? इसके मूल में यही तो वृत्ति है कि हम श्रेष्ठ हैं हमारी संस्कृत भाषा और उसका साहित्य सर्वश्रेष्ठ है, औरों के पास जो है वह निकृष्ट है। ऐसे अनुवादों से आत्मपरीक्षण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, इससे अपना तथाकथित श्रेष्ठत्त्व खतरे में आ सकता है इसलिए वे अनुवाद नहीं चाहते थे।

गौतम बुद्ध के वचनों के अनुवाद ईसा पूर्व शती में तिवेटी, जापानी, चीनी भाषाओं में हो रहे थे। परन्तु इस देश के संस्कृत विद्वानों को गौतम बुद्ध के दर्शन का, उनके वचनों का संस्कृत अथवा भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने की जरूरत कभी महसूस नहीं हुई। समता के दर्शन का स्पर्श भी हमें न हो ऐसी शपथ ही मानो इन लोगों ने ले रखी थी। इसी कारण यह प्रमेय सिद्ध हो जाता है कि जिस काल में वर्ण व्यवस्था अपने कट्टर रूप में थी, तब अनुवाद की परम्परा दिखलाई नहीं देती।

'ज्ञानेश्वर' तथा 'तुलसीदास इस देश के पहले अनुवादक :

जब-जब वर्णव्यवस्था के विरोध में विद्रोह शुरू हो जाता है, तब-तब अनुवाद को गति प्राप्त हो जाती है-इस प्रकार का एक प्रमेय ऊपर प्रस्तुत किया गया था। हमारे यहाँ जो-जो उत्कृष्ट है, वह सब तक जाएँ इस हेतु निष्ठा के साथ वही प्रयत्न करते रहता है, जिसकी सहानुभूति का क्षेत्र विशाल होता है। जो संवेदनशील व्यक्ति वर्ण तथा जाति व्यवस्था की चौखट से बाहर निकालकर विशाल समाज का प्रबोधन करना चाहता है, वह लोकभाषा की महत्त्व देता है। उसकी इच्छा होती है कि लोगों तक वह सम्पूर्ण ज्ञान या विचार पहुँचाए जो उसे परम्परा से अथवा अपने अनुभव से प्राप्त है। इसी संवेदनशीलता और विराट सहानुभूति और करुणा के कारण गौतम बौद्ध बनाते हैं। मध्यकाल में सम्पूर्ण देश में वर्ण तथा जातिव्यवस्था के विरोध में एक मुहिम सन्तों ने शुरू की थी। अर्थात् यह मुहिम केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित थी। वास्तव में यह प्रक्रिया अध्यात्म के जनतांत्रिकीकरण की प्रक्रिया थी। सन्तों के इस प्रबोधन में तथा बाद के कालखंड के फुले-अंबेडकर-शाहू महाराज तथा गांधीजी के

प्रबोधन में गुणात्मक अंतर है। यहाँ इस अंतर को बतलाना यह उद्देश्य नहीं है। यहाँ केवल यह संकेत देना है कि जब-जब वर्णव्यवस्था की नीव पर प्रहार किए जाने लगते हैं, तभी मनुष्य की ओर मानवीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न होता है। जन को अधिक सजग, शिक्षित करने का जब प्रयत्न शुरू हो जाता है, तभी अनुवाद की प्रक्रिया भी शुरू हो जाती है। जो उत्कृष्ट है और जो एक विशिष्ट भाषा में बंद है, उसे सामान्य आदमी तक ले जाने हेतु प्रयत्न शुरू हो जाते हैं। प्रमाण रूप में उपरोक्त दो सन्तों के नामों का उल्लेख किया गया है। तुलसीदास जी भले ही विचारों से प्रतिगामी रहे हो, वर्णव्यवस्था के समर्थक रहे हो— और इसे अनेक प्रमाणों द्वारा साबित किया गया हो तो भी उन्होंने काफी सोच-समझकर संस्कृत भाषा में स्थित वाल्मीकि रामायण को जनभाषा में प्रस्तुत किया। इस काल की सामाजिक सीमाओं को उन्होंने स्वीकार किया था, बावजूद इसके संस्कृत में स्थित अध्यात्म को उन्होंने जनसामान्य की भाषा में प्रस्तुत किया है। ज्ञानेश्वर तो वृत्ति से ही विद्रोही थे। सनातनियों ने उनका छल किया। बहुजनों ने उन्हें अपने बीच समा लिया। बहुजनों को आध्यात्मिक क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त हो, इसलिए उन्होंने ज्ञानेश्वरी की रचना की। मध्यकाल में जो-जो संत संस्कृत के जानकार थे, उन्होंने संस्कृत के ग्रन्थों को उस काल की लोकभाषा में प्रस्तुत करने का प्रयत्न क्रिया। भक्ति आन्दोलन का काल वर्ण तथा जाति व्यवस्था के विरोध का काल था। इस कारण ऊपर प्रस्तुत यह प्रमेय सिद्ध हो जाता है कि जब-जब समतावादी विचारों का विस्फोट होता है, तब-तब भी होता है।

इससे सम्बन्धित दूसरा प्रमाण 19वीं शती के जनजागरण काल से प्राप्त होता है। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, प्रार्थना-समाज तथा सत्यशोधक समाज इस काल में प्रबोधन करनेवाली प्रमुख संस्थाएँ थीं। ये चारों संस्थाएँ जाति तथा वर्णव्यवस्था के विरोध में खड़ी थीं। इनमें वैदिक व्यवस्था को नकारने वाला एक ही समाज था- ज्योतिबा फुले जी का सत्यशोधक समाज। परन्तु यहाँ प्रश्न वैदिक-अवैदिक का नहीं है; प्रश्न है बन्द समाज को खुला करने के प्रयत्न का। समतावादी समाज व्यवस्था का दर्शन प्रस्तुत करने वालों का तथा उस हेतु प्रयत्न करने वालों का यह प्रश्न है। इस प्रयत्न का सीधा प्रभाव यहाँ की लेखन-प्रक्रिया पर होता है। अपने-अपने वर्ण तथा जाति की दीवारों को मजबूत कर उसमें जीने वालों के मन में औरों के प्रति जिज्ञासा की वृत्ति इन महापुरुषों ने निर्माण की। अपने आसपास फैले जीवन की ओर सहानुभूति से देखने की वृत्ति निर्माण करने का प्रयत्न इन्होंने किया। इस काल में इस देश पर अंग्रेजों का राज था। इस कारण अंग्रेज, उनका धर्म, उनका साहित्य, उनकी भाषा आदि के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी लेने का प्रयत्न यहाँ के कुछ संवेदनशील लोगों ने शुरू किया। परिणामतः इसी काल में अनुवाद की प्रक्रिया को गति मिलने लगती है। प्रबोधन का काल वास्तव में अनुवाद का काल है। इस काल में सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद हेतु मानो आन्दोलन ही शुरू हुआ है। यह अनुवाद दो प्रकार का है - संस्कृत, पाली, प्राकृत इन स्वभाषा में स्थित श्रेष्ठ ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद करना। ठीक इसी प्रकार अंग्रेजी में जो मौलिक है, श्रेष्ठ है, उसका भी अनुवाद अपनी भाषा में करना। वेद, उपनिषद, स्मृतिग्रन्थ, दर्शन

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित सैकड़ों ग्रन्थों का प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद का कार्य इसी काल में शुरू हुआ है। इसी काल में ऐसा क्यों हो रहा था? इसके दो उत्तर सम्भव हैं। एक-अब वर्ण या जाति में बन्द होकर जीने से काम नहीं चलेगा। हमारे पास जो भी श्रेष्ठ है, उसे आम आदमी तक पहुँचाने की ऐतिहासिक जरूरत है इससे हमारी श्रेष्ठता साबित होने वाली है और हमें अपनी सीमाओं का अहसास भी होने वाला है। अगर ऐसी भूमिका हम नहीं लेंगे, तो यहाँ का बहुजन-समाज बड़ी संख्या में हिन्दू धर्म को छोड़ देगा। इसे अगर रोकना हो तो उसे अपनी इस समृद्ध परम्परा की जानकारी देना जरूरी ही नहीं, अनिवार्य भी है। इस दृष्टि से हिन्दी क्षेत्र में आर्य-समाजी विद्वानों ने बहुत बड़ा काम किया है। आर्य समाज की प्रतिक्रिया स्वरूप सनातन धर्म सभा का जन्म हुआ। परन्तु मजेदार बात यह है कि इस सनातन सभा को भी इस बात का अहसास हुआ कि प्राचीन संस्कृत साहित्य का, उसमें स्थित धार्मिक ग्रन्थों का अनुवाद करने की जरूरत है। इसी काल में गीता प्रेस, गोरखपुर की स्थापना होती है और पुराण ग्रन्थों, स्मृति ग्रन्थों, संस्कृत भाषा में स्थित धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद की बाढ़ आने लगती है।

दूसरे प्रकार का अनुवाद विदेशी भाषाओं में स्थित ग्रन्थों के अनुवाद का है। इसी काल में अरबी-फारसी भाषा में स्थित क्लासिकल ग्रन्थों का अनुवाद भारतीय भाषाओं में शुरू हो जाता है। अंग्रेजी भाषा आत्मसात कर उस भाषा में स्थित साहित्य तथा वैचारिक ग्रन्थों के अनुवाद की परम्परा शुरू हो जाती है। अपनी भाषा में स्थित उत्कृष्ट ग्रन्थों के कितने अंग्रेजी अनुवाद यहाँ के विद्वानों ने प्रस्तुत किए यह अनुसंधान का विषय है। परन्तु यहाँ के प्रशासन में स्थित अंग्रेज अधिकारियों ने यहाँ की भाषाओं को आत्मसात किया, इन भाषाओं में शब्दकोशों का निर्माण किया। इन भाषाओं के व्याकरण के ग्रन्थ लिखे। इन भाषाओं के साहित्य के इतिहास को लिखा। इस देश को उसकी परम्परा के साथ जान लेने की कोशिश पूरी इमानदारी से उन्होंने शुरू की। इसके मूल में इस देश के प्रति उनकी जिज्ञासा जितनी कारणीभूत थी, उतनी ही यह नीति भी कि इस देश पर सहजता से राज करने के रहस्यों को जान लेना। इसी क्रम में शिक्षा के दरवाजे सभी वर्ण तथा जाति के लिए खुले कर दिए गए। महाराष्ट्र में इसकी शुरुआत ज्योतिबा फुले करते हैं और हिन्दी क्षेत्र में महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी। सत्यशोधक तथा आर्य समाज के अनुयायियों ने इस कार्य की एक आन्दोलन का रूप दिया। शिक्षा जब तक एक विशिष्ट वर्ण तथा वर्ग तक सीमित थी, तब तक अनुवाद की कोई परम्परा दिखलाई नहीं देती। शिक्षा के जनतांत्रिकरण के बाद ही अनुवाद-प्रक्रिया को गति मिलती है।

जहाँ वर्ण तथा जाति-व्यवस्था नहीं होती अर्थात् समता का दर्शन प्रत्यक्ष आचरण में व्यक्त होते रहता है, वहाँ अनुवाद की सुदृढ़ ऐसी परम्परा होती है।

हमारे सम्मुख यूरोप के अनेक देश हैं, जहाँ की समाज-व्यवस्था समता पर आधारित रही है। अर्थात् यह वास्तविकता है कि इन देशों में भी कभी किसी समय रंग के आधार पर समुदाय-समुदाय में भेद किया जाता था। आज भी कम-अधिक मात्रा में यह स्थिति है। इनकी विषमता 'वंश को लेकर रही। ज्यू विरोध के कारण दूसरे महायुद्ध में क्या कुछ हुआ, इसका

हमें पता है। वंश तथा वर्ण के आधार पर भेद किया जाता था। परन्तु एक ही वंश के लोगों में तो समानता थी। संवाद था। दूसरी बात वंश या रंग के आधार पर उनके साथ अछूतों की तरह आचरण नहीं किया जाता था। इन देशों में आर्थिक विषमता थी और है। परन्तु सामाजिक विषमता का वह स्वर नहीं है, जो भारत में है। सामन्ती तथा उपनिवेशवादी वृत्ति वहाँ है। बावजूद इन सभी सीमाओं के इन देशों में मनुष्य और उसकी अस्मिता को लेकर स्वतन्त्र चिन्तन होता रहा है। जन्माधिष्ठित श्रेष्ठ कनिष्ठता की भावना वहाँ नहीं है। मनुष्य के जीवन को लेकर, प्रकृति को लेकर, मनुष्य और समुदाय के बीच स्थित सम्बन्धों को लेकर जबरदस्त ऐसी जिज्ञासा उनमें रही है। कूपमंडूक वृत्ति नहीं है और इसी कारण अपने देश की सीमाओं पर स्थित समुद्र को देखकर उस समुद्र के परे की जमीन की तलाश में वे निकले। यह देश तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ है। परन्तु 5वीं शती के बाद यहाँ के युवकों में ऐसी जिज्ञासा पैदा ही नहीं हुई कि इस समुद्र के परे भी देश होगे और उनकी खोज करनी चाहिए। ऐसी जिज्ञासा उनमें पैदा हो ही नहीं सकती थी क्योंकि यहाँ के धर्मशास्त्रों ने समुद्र उल्लंघन को पाप घोषित किया था। यूरोप के युवकों के मन में स्थित साहसी वृत्ति का अभाव यहाँ था, इसके मूल में जिज्ञासा का अभाव था। अपनी जाति के परे जाकर सोचने की इजाजत ही यहाँ नहीं थी। बुद्ध काल में और बुद्धोत्तर दो तीन सौ वर्षों तक यह साहसी, जिज्ञासु वृत्ति थी। बाद में इस वृत्ति को ही धीरे-धीरे क्यों न हो नष्ट कर दिया गया। यूरोप की साहसी वृत्ति के मूल में भले ही व्यापारी वृत्ति रही हो तो भी औरों तक पहुँचने का उनका प्रयत्न, औरों की भाषा, संस्कृति समाज व्यवस्था आदि को जान लेने हेतु उनके द्वारा किए गए प्रयत्नों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सारी स्थितियाँ अनुकूल होने के बावजूद हमारे पूर्वज आत्मकेन्द्रित क्यों जीते रहे, सात समुन्दर के परे तो जाने दीजिए, अपने पड़ोसियों को समझ लेने की कोशिश उन्होंने क्यों नहीं की इन प्रश्नों के उत्तर तो मिलने चाहिए। यहाँ हमेशा केवल सत्ताधारियों की भाषा को सीखने का प्रयत्न हुआ है। भारत के पूर्वी प्रदेशों– नागालैंड, त्रिपुरा मणिपुर में स्थित आदिवासियों की भाषा सीखने हेतु, उनके साथ रहते हुए उनकी तरह जीते हुए, उनकी भाषा को सीखने का क्या कभी प्रयत्न हुआ है? ऐसा प्रयत्न जब ईसाई मिशनरी करते हैं, तब उनके विरोध में चिल्लाने का काम हम करते हैं। वे अपने धर्म का प्रचार करने हेतु क्यों न हो-उन तक पहुँचते हैं। हम इन आदिवासियों की 'गंवार कह कर उपेक्षा करेंगे और अगर उनमें जाकर कोई कुछ कर रहा हो वो उसे जिन्दा जला देंगे-यह किस प्रवृत्ति का द्योतक है? कम-से-कम पिछले 100-150 वर्षों में तो इन लोगों के निकट जाने का प्रयत्न हमने नहीं किया। पिछले 25-30 वर्षों से इस दिशा में कुछ प्रयत्न हो रहे हैं। परन्तु इस प्रयत्न के मूल में उनके प्रति सहानुभूति अथवा प्रतिबद्धता नहीं है, अपितु अपनी तथाकथित जीवन पद्धति और अपनी संस्कृति उन पर थोंपने का षड्यन्त्र है। अंग्रेजी में अनुवाद की एक प्रदीर्घ ऐसी परम्परा है। विश्व में जो सर्वश्रेष्ठ और मौलिक लेखन है, वह अंग्रेजी में तुरन्त उपलब्ध हो जाता है। अर्थात् इसके लिए बाजार कारणीभूत है। अंग्रेज पूरे विश्वभर

में फैल गए। इस कारण उनकी भाषा सभी ओर पहुँच गई। इस भाषा को जानने वालों की संख्या भी अधिक है। इसलिए इस भाषा में अधिक अनुवाद प्रकाशित होते हैं। इस यथार्थ को स्वीकारने के बाद भी यह प्रश्न शेष रह ही जाता है कि जिन विषयों का बहुत बड़ा मार्केट नहीं है, ऐसी पुस्तकें भी अंग्रेजी में अधिक क्यों आती हैं? इस भाषा को अधिक समृद्ध करना है, यह वृत्ति इसके मूल में है। ठीक इसी प्रकार औरों को जान लेने की वृत्ति भी इसके मूल में है। 19वीं शती में अंग्रेजी का मार्केट इतना बड़ा तो था नहीं। फिर भी संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद वे लोग क्यों कर रहे थे? भारतीय भाषाओं का अध्ययन, उनके शब्दकोश, उनके इतिहास आदि का अध्ययन वे क्यों कर रहे थे? यूरोप की अनेक भाषाओं में अनुवाद की समृद्ध परम्परा मिलती है, भारत में ही वह क्यों नहीं मिलती?

बौद्ध धर्म समता का दर्शन प्रस्तुत करता है। औरों को समझ लेने की वृत्ति इस दर्शन में है और इसी कारण ईसा शती पूर्व से ही बौद्ध दार्शनिकों ने संस्कृत ग्रन्थों का पाली में अनुवाद किया है। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जापानी, चीनी, तिबेटी भाषाओं में उन्होंने बौद्ध धर्म तथा बौद्ध दर्शन को पहुँचाया है। परन्तु बौद्ध दर्शन के उत्कृष्ट ग्रन्थों के कितने संस्कृत अनुवाद प्राप्त होते हैं? उलटे वैदिक विचारधारा के विरोध में जो दर्शन या जो ग्रन्थ हैं, उनके अनुवाद तो जाने दीजिए, उन्हें पूर्णतः नष्ट करने का प्रयत्न यहाँ हुआ है। उदाहरण बौद्ध दर्शन तथा चार्वाक के ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। यानी नष्ट करना अथवा पूर्ण उपेक्षा करना इन्हीं दो तन्त्रों का उपयोग यहाँ किया गया। अश्वघोष की वज्रसूची का अनुवाद कब हुआ, इसे याद करके देखिए।

इस्लाम भी समता का दर्शन लेकर निकला। कुरान में एक स्थान पर ऐसा वचन है कि ज्ञान प्राप्ति हेतु अगर चीन जाना पड़े तो वहाँ भी जाओ। उन दिनों चीन की यात्रा सबसे कठिनतम यात्रा मानी जाती थी। इस्लाम के उत्कर्ष काल में विश्व का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान-गणित, ज्योतिष, अवकाश-विज्ञान, स्वास्थ्य विषयक ज्ञान दर्शन आदि को अरबी भाषा में लाने का प्रयत्न हुआ। बाद में वहाँ पर भी आत्मकेन्द्रित वृत्ति आती गई। परन्तु जब तक इस्लाम में उदारमतवादी वृत्ति थी तब तक की स्थिति भिन्न थी। भारतीय परम्परा में मध्यकाल में अनुवाद मिलते हैं। (ज्ञानेश्वरी, रामचरित मानस) बाद के कालखंड में वर्णव्यवस्था फिर से दृढ़ होने लगती है। कूपमंडूक वृत्ति बढ़ने लगती है और परिणामतः अनुवाद की परम्परा खंडित होने लगती है। वह फिर से शुरू हो जाती है, 19वीं शती के नवजागरण काल में।

अनुवाद के कारण क्या घटित होता है?

अनुवाद से आत्मपरीक्षण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। अनुवाद एक दृष्टि से खुद बात और जोड़ देनी है कि अनुवाद के कारण स्वतन्त्र चिन्तन तथा स्वतन्त्र सृजनकार्य में गति आ जाती है। औरों के सृजन से, चिन्तन से, प्रतिभा सम्पन्न लोगों को प्रेरणा मिलती है। मराठी में शेक्सपीयर के नाटकों के अनुवाद के कारण मौलिक नाट्य लेखन की परम्परा शुरू हो जाती है। अनुवाद के कारण हमें अपनी भाषा के साहित्य की सीमाओं का अहसास हो जाता है।

परिणामतः उन सीमाओं की लांघने हेतु उतना ही सशक्त सृजनकार्य हो इस हेतु प्रयत्न शुरू हो जाते हैं। इस वास्तविकता को स्वीकार करना होगा कि वर्णव्यवस्था न इस देश के सृजन और चिन्तन को कुंठित कर दिया था।

विश्व के सभी स्त्री-पुरुष समान हैं। विशिष्ट ऐसे आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक अथवा पारिवारिक कारणों से मनुष्य के जीवन में दुःख निर्माण हो जाते हैं। दुःख की कोई जाति नहीं होती, वर्ण नहीं होता। दुःख दुःख ही होता हैं। परन्तु यह भी सच है कि मनुष्य के दुःख सम्बन्धित समाज व्यवस्था अथवा अर्थव्यवस्था के कारण निर्माण होते हैं। अर्थात् अपवाद रूप में दुःख के लिए व्यक्ति का स्वभाव भी कारणीभूत होता है। कहना यह है कि मानवी दुःखों का सम्बन्ध पूर्वजन्म के कर्म अथवा भाग्य से नहीं होता। मनुष्य अपनी पद्धति से दुःखों के साथ संघर्ष करते रहता है। ऐसा संघर्ष करते समय वह मानवी मूल्यों के साथ कुछ सम्बन्ध रखता है अथवा नहीं, इसकी जाँच-पड़ताल की जरूरत होती है। मनुष्य सभी ओर एक सरीखा है। इस मनुष्य के जीने के सम्बन्ध में, उसके सुख-दुःखों के सम्बन्ध में, औरों से वह जो सम्बन्ध रख रहा है, उसके सम्बन्ध में, उसके दर्शन, उसके विचार आदि के सम्बन्ध में जबरदस्त ऐसी जिज्ञासा संवेदनशील मन में होनी चाहिए। ऐसी जिज्ञासा के कारण ही वह अनुवाद की ओर मुड़ते रहता है और इसी कारण अनुवाद-प्रक्रिया का तथा समता के मूल्यों का बहुत निकटता से सम्बन्ध है। इस देश की वर्णव्यवस्था ने समता के मूल्यों की घोर उपेक्षा की है। आत्मकेन्द्रित तथा अहंकार पूर्ण जीवन यहाँ के तथाकथित प्रतिभा सम्पन्न और बुद्धिजीवी जीते रहे हैं। परिणाम स्वरूप यहाँ अनुवाद की परम्परा दिखलाई नहीं देती।

निकष-19, अजिंक्यव्हिला
अजिंक्य सिटी
अंबाजोगाई रोड, लातूर-413512
मो. 9423735393

रिल्के के पत्र पत्नी क्लैरा के नाम

—अनुवाद : राजी सेठ

(1)

क्लैरा रिल्के को,

(कैपरी, 22 फरवरी, 1907)

...बहुत थोड़े-से शब्दों में मैं तुम्हें तुम्हारे पाँचवें पत्र के लिए धन्यवाद दे रहा हूँ, उनमें लिखी गयी सब बातें मैं समझ सकता हूँ और तुम्हारी उदासी तक भी पहुँच सकता हूँ क्योंकि इस मनोदशा से मैं बहुत गहरी तरह परिचित हूँ। इसके कारण भी ढूँढ़े जा सकते हैं... हमारे भीतर कदाचित् एक दुखता स्थल है, हमेशा वही एक। जब दुखना शुरू होता है तो कुछ पहचान में नहीं आता। लगातार धीमा-धीमा दर्द होते रहने से हम जान ही नहीं पाते कि कहाँ दुख रहा है और हम उसका कैसे उपचार करें। मैं यह सब समझता हूँ। इसी तरह खुशी की अनुभूति भी है पर शायद हमें इन दोनों से परे जाना है। इस बारे में मैंने हाल ही में काफी सोचा, जब कई दिनों तक लगातार मैं एनाकैपरी के अकेले पहाड़ की ढलानों पर चढ़ता रहा और वहाँ पहुँच कर मैंने बड़ी प्रसन्नता महसूस की—अपनी आत्मा तक पहुँचती पीड़ा भरी प्रसन्नता। अकसर इन दोनों आवेगों की अवहेलना करनी पड़ती है खुशी की भी उदासी की भी। दोनों में से कोई भी अनुभूति हमारे साथ बनी नहीं रहती। बनी भी कैसे रह सकती है, जबकि व्यक्ति में वहाँ पहुँच लेने की क्षमता हैं, जहाँ हवा है रोशनी है, हवा में संचरित पक्षियों के गान हैं। ऐसे में जैसा एक तरह की अनुभूति में पगे होना वैसे ही दूसरी तरह की अनुभूति में, चाहे वह किसी भी कारण से उपजती हो। इन्हें देखना-सुनना आत्मसात करना ही अच्छा है। इन चीजों के भार से कुन्द नहीं हो जाना चाहिए बल्कि इनमें खोए बिना इनकी सहस्रमुख वैविध्य को महसूस करते रहना चाहिए।

अप्रैल के किसी खुशगवार दिन एक बार मैंने रोदां से कहा, ‘‘क्या आपको नहीं लगता कि खूब परेशानी के दिनों में थक जाने की सीमा तक काम करते रहना खूब मुक्त करता है’’ और रोदां ने, जो अपने तईं खुशगवार मौसम का अर्थ अच्छी तरह जानते हैं, मेरी ओर एक क्षणिक दृष्टि डालते हुए कहा- ‘‘ओह, इस बात पर मैंने तो कभी ध्यान ही नहीं दिया’’। हमें

यही सीखना है कि किन्हीं चीजों की ओर हम ध्यान ही न दें। 'इतना' संचित रहें कि जब तक समग्रता से उनका सामना करने की गुँजाइश न हो, अपने संवेदनशील स्थलों को उनके निकट ले जाने की कोशिश न करें। हर चीज को केवल अपनी 'समग्रता' में महसूस करने के आग्रह के चलते काफी कुछ (जोकि वस्तुतः थोड़ा है) छूट भी जाता है, पर सारी महत्त्वपूर्ण चीजें तो घटती ही हैं...

(2)

क्लैरा रिल्के को,

विला-डिस्कोपोली, कैपरी
मार्च 8, 1907

...मेरा पत्र तुम्हारे उस पत्र से क्रॉस हो गया जिसमें तुमने शामों की सैर के सुन्दर वर्णन लिखे थे। जितना मैंने तुम्हारे शब्दों में झलकती उत्कंठा से ग्रहण किया उतना तो तुमने जल्दी-जल्दी में लिखी उन टिप्पणियों के बारे में सोचा भी नहीं होगा। तुम्हारे नोट्स बहुत अच्छे हैं– असन्दिग्ध और सकारात्मक। जब तुम उन्हें यहाँ मेरे साथ बैठी दोबारा पढ़ोगी तो यह देखकर हैरान हो जाओगी कि उनमें क्या-क्या कुछ संचित है। उन्हीं कुछ सूत्रों में से हम बाकी का सब कुछ पूरा और विस्तृत कर लेंगे और मिस्र की यात्रा का एक ऐसा दस्तावेज तैयार करेंगे जैसा कि कोई और नहीं कर पाया होगा। फ़िलहाल, तुम अपने पर पड़ते बहुत-से प्रभावों को संचित करो। ऐसे पत्रों को लिखने के बारे में मत सोचो जो मात्र सूचनात्मक होते हैं और तत्काल समझे जा सकते हैं। एक के बाद एक घटती स्थितियों को फुर्ती से पकड़ो। इतनी तेजी से घटते घटित को झलकियों में, क्षण-दीप्त चौंधों में ही पकड़ा जा सकता है, क्योंकि वह तुम्हारे भीतर क्षण भर को ही टिकते हैं। हमारी दृष्टि की यह क्षणिक उत्कटता उस समय महत्त्वहीन को भी महत्त्वपूर्ण बना देती है; यह भी हो सकता है कि यह सब कुछ ऐसे स्थल पर घटता है जहाँ वह अपनी आकस्मिकता को लाँघकर पहले से ही परिपक्व, प्रामाणिक और किसी की अन्तर्दृष्टि के आस्वाद के लिए प्रयोजनमय हो चुका होता है। ऐसे में हमारी अन्तर्दृष्टि में उसकी एक अर्थगर्भित प्रतिच्छवि ही कौंधती है।

देखना, अवलोकन करना बड़ी अद्भुत चीज है, पर इस बारे में हम बहुत कम जानते हैं। अपने भीतर यह शक्ति होने के बावजूद हम प्रायः बाहर की ओर ही उन्मुख रहते हैं। बाह्योन्मुखता के इस काल में वही सब चीजें हमारे भीतर घट रही होती हैं जो कब से अनदेखी रहना चाहती रहीं। हमारे भीतर अछूती अनाम बनी रहकर वह हमारे बिना भी पूर्णता को प्राप्त होती रहीं। उनका अर्थ हमारे सामने बाहर की अवलोकित वस्तु में विस्तृत होता है तभी उसे

एक स्थिर, सक्षम, यथासम्भव नामरूप मिलता है। इस क्रिया को हम उस समय सानन्द अपने भीतर एक घटना की तरह पहचानते हैं; हालाँकि हम स्वयं वहाँ तक पहुँचे नहीं होते, केवल एक धुंधला सुदूर-सा एहसास हमारे भीतर होता है – किसी वस्तु के चिह्नों की तरह बेगाना और दूरस्थ। ऐसा अकसर मेरे साथ होता है, कोई कोई चेहरा मुझे इसी तरह प्रभावित करता है। ज्यादातर लोग जल्दी दिन शुरू करते हैं, ढेर सारी रोशनी और गर्मी उन्हें सुबह से मिल चुकी होती है। ऐसे में अचानक किसी गली की छाँह में कोई ऐसा चेहरा दीख जाये तो मात्र इस वैपरीत्य के कारण अपनी पूरी प्रकृति को क्षणभर में ही इतना स्पष्ट (सूक्ष्म भेद-विभेद की स्पष्टता) और उजागर कर दे कि वह क्षणिक प्रभाव ही अनायास एक परम प्रतीक में रूपान्तरित हो जाये। किसी और वस्तु की इच्छा से अधिक मैं यहाँ एक चित्रकार की उपस्थिति की कामना करता हूँ जो गम्भीरता से वह चित्र बना सके। अब जरा कल्पना करो; गहरे नीले मुड़ते हुए सागर के बगल में एक हरा सपाट आयताकार खेत। किसी प्रलंब उपसंरचना से विहीन, जो होती तो दोनों को विभाजित कर सकती थी। उस खेत में उन्नाबी और नारंगी वस्त्र पहने बैठी एक स्त्री। तार पर सुखायी सफेद चादरों और मेज़पोशों के बीच म्लान हरे परिधान में इधर-उधर आती जाती एक-दूसरी स्त्री। यह कपड़े हवा के साथ हिलते-डोलते हैं, कभी फूल जाते हैं तो कभी सिमट जाते हैं। उनका पारभासी प्रतिबिम्ब चमकीली लहरों पर तरंगित होता, समुद्र के साफ नीलेपन से बाधित होता, और चारों ओर से आच्छादित आकाश के नीचे लहराता है... आदि-आदि। क्या यह सब-कुछ पॉला बेकर[1] को आनन्दित न करता होगा? इसको स्याही से लिखना सचमुच अपराध है। क्यों नहीं कोई चित्रकार यहाँ आता और साहूकारों को इस मन्दिर से बाहर ढकेलकर वह सब कुछ नहीं करता जिसे यहाँ रहते हुए करना सबसे जरूरी और सहज है।

फिर कह रहा हूँ बहुत नोट्स बनाओ, चाहे तुम उन्हें दोबारा न भी पढ़ो (दोबारा पढ़ते समय आदमी कुछ असम्बद्ध हो जाता है और उसे उसमें से बहुत कुछ असम्भव लगने लगता है जोकि अन्यथा अनिवार्य होता है) और अगर हो सके तो दृष्टि की इस प्रत्यक्षता के रहते एक ही झटके में किसी-न-किसी रूप में इनका रेखांकन भी कर डालो। यह सब कच्चे माल की तरह है, जिसे हम बाद में छाँट लेंगे। विचार-विनिमय कर लेंगे और टूटी कड़ियों को जोड़ लेंगे। तुम देख लेना सब कुछ व्यवस्थित हो जाएगा। इतना याद रखो कि यह सामग्री बहुतायत में होनी चाहिए ताकि उसे हम अपने सामने पसार सकें और अर्थवान को ढूँढ़ पायें। जितनी ज्यादा हो उतना ही अच्छा है।...मुझे तुम संक्षेप में ही पत्र लिखना और अपने को टिप्पणियों और रेखांकनों के लिए बचाकर रखना। (फल और सब्जी की तरह घरों के अन्तरंग कक्षों को देखना मेरे लिए भी कहीं और से आया हुआ अनुभव है, शायद रोम से) देखो, देखो, देखो...

(3)

क्लैरा रिल्के को,

विला-डिस्कोपोली, कैपरी
मार्च 8, 1907

...मैं हमेशा सोमवार को ही तुम्हें लिखता हूँ – द 'ओशना' लेटर (ओशना, नेपल्स और मिस्र के बीच चलने वाला स्टीमर) और यह तुम्हें अगले रविवार साढ़े दस बजे मिलता है। तुम्हारे भेजे कार्ड्स से ऐसी ही सूचना मिलती है। उन्हें मैं तुम्हारे पत्र ही मानता हूँ (दसवाँ कार्ड) यह कार्ड कितने सुन्दर हैं और जो कुछ इन पर छपा है उसके बारे में तुम कितनी अच्छी तरह से मुझे समझाती हो। पिरामिडों तक जाने का रास्ता तुमने मेरे भीतर इसी तरह सजीव किया या मुझे उस प्रदीप्तावस्था की ओर उन्मुख किया। एक कार्ड इससे ज्यादा और क्या दे सकता है। तुम्हारे इस तरह बताने से एक चित्र का पूरा चेहरा और विन्यास मेरे भीतर खुल गया, लगभग कार्ड के ही अनुसार। तुम्हारी यह कामना है कि मैं "और और... खूब अकेला हो पाऊँ।" हाँ, कमोबेश मैं भी ऐसा ही चाहता हूँ। सैर-सपाटे, और हाट-बाजार के वातावरण से थककर वापस अपनी वीरान विरसता तक तो पहुँचा जा सकता है जो बैठकबाजी के मनोविनोदी प्रभाव में छितर जाती है। ...हमारे पालन-पोषण का ढंग ही शायद हमारे सामाजिक कार्य-कलापों की इतनी बुरी व्यवस्था का जिम्मेवार है। हेलुअन के लोग पेशवर बैठकबाज हैं (घूमने-फिरने का तो वहाँ सवाल ही नहीं उठता) उन्होंने बचपन से ही इन सामाजिक अनियमितताओं को अपने जीवन के साथ एक अपरिहार्य पहलू की तरह जोड़ रखा है। यही वह कैनवास है जिस पर उन्होंने बार-बार जीवन का कसीदा काढ़ा है। जबकि मेरे जैसे व्यक्ति का जीवन कितना भिन्न है जो स्कूल के बाग में स्थित गिरजाघर के प्रांगण के एक कोने में इसलिए बैठा रहता था ताकि अपने को अपने समकालीनों से सुरक्षित रख सके। इस अत्यन्त असामाजिक परिवेश में उनकी निर्ममता मेरे लिए कागज काटने की उस कैंची की तरह थी जो ग्रुपफोटो में से अप्रिय व्यक्ति की तरह मुझे तेजी से कतर कर फेंक देती थी। बाद में भी बार-बार ऐसा ही होता रहा। आंटी गैब्रिएले[2] के छोटे-से कमरे में बैठे भी मुझे अलगाव, अकेलेपन, और जो कुछ भी मिल जाये उसे स्वीकारने की बाध्यता से समझौता करते रहना पड़ा... ज्यादातर लोग अपने कर्म से पूरी तरह परिचित होने से पहले ही, काम की झूठी छवि को केन्द्र में रखकर अपने आमोद-प्रमोद के लिए विक्षेपों की रचना कर लेते हैं। काश, वे थोड़ी प्रतीक्षा करते। कुछ धीरज रखते तो असली काम उनके नियंत्रण में आ जाता। वे समझ जाते कि प्रतिपक्ष में तो कुछ है ही नहीं, जैसे कि इस संसार का, भगवान का या जीवात्मा का कोई विपक्ष ही नहीं। काम ही सबकुछ है और जो काम नहीं

है, वह न कुछ है, न कहीं है। रैनां ने एक बार लिखा था– 'काम करना ही आराम करना है'– मैं इस आदर्शोक्ति की रोदां पर लिखे दूसरे ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर लिखूँगा (जिसे मैं तब तक शुरू नहीं करूँगा जब तक हम मिस्र के बारे में बात पूरी नहीं कर लेते...)

एम-16, साकेत
नई दिल्ली-110017
दूरभाष - 011-29562232

संदर्भ -

1. *पॉला बेकर-एक चित्रकार, रिल्के दम्पत्ति की मित्र।*
2. *रिल्के की बुआ : रिल्के की माँ वियेना चली गयी थी, और प्रागस्थित पिता का घर बहुत छोटा था, इसलिए बालक रिल्के 1896 तक अपनी बुआ के पास रहा।*

¨ *जर्मन कवि राइनेर मारिया रिल्के (1875-1925) आजीवन सृजनात्मकता की बाध्यताओं से आक्रान्त रहे। अस्तित्व और जीवन यापन की हर समस्या उसके तईं रचनात्मक चिन्ताओं से गुँथी रही। जीवन के कुल इक्यावन वर्षों में रिल्के के तीस कविता-संग्रह प्रकाशित हैं। इसके अलावा एक उपन्यास, अनेकानेक कहानियाँ, लेख, संस्मरण भी उनके नाम दर्ज हैं।*

¨ *राजी सेठ हिन्दी की सुपरिचित लेखिका एवं कथाकार हैं। आपने साहित्य की सभी विधाओं (कहानी, उपन्यास, कविता, समीक्षा, निबन्ध, डायरी आदि) में लेखन किया है। तुलनात्मक धर्म और भारतीय दर्शन की अध्येता रह चुकी श्रीमती सेठ जी के कई कहानी-संग्रह, उपन्यास प्रकाशित-प्रशंसित-पुरस्कृत हो चुके हैं। यहाँ संकलित तीनों पत्र उनके द्वारा अनूदित पुस्तक 'रिल्के के प्रतिनिधि पत्र' से साभार।*

विलियम शेक्सपियर वाया प्रो. स्वामीनाथन

–कान्तिकुमार जैन

शायद यह प्रो. स्वामीनाथन का असर था, शायद सागर विश्वविद्यालय के कला संकाय के अधिकांश अध्यापकों के इलाहाबाद विश्वविद्यालय में शिक्षित होने का, हमारे विश्वविद्यालय का कैंपस उन दिनों शेक्सपियर मय हो रहा था। यह सन् 1948 से सन् 55 के बीच की बात है, डॉ. हरीसिंह गौर के दान से मध्यप्रान्त में नये नये खुले सागर विश्वविद्यालय का। इस असर का 67% भाग अंग्रेजी के रीडर हेड स्वामीनाथन साहब का था, उनकी एक्स्ट्रा कक्षाओं का। शाम के 3 बज गये हैं, नगर से आनेवाले डेलिगेसी के छात्रों की बसें जा चुकी हैं, छात्रावासी छात्र अपनी अपनी बैरकों में लौट चुके हैं पर कुछ सिरफिरे हैं जो ग्रंथालय के सामनेवाली बैरक की सबसे बड़ी गैरेज के बरांडे में खड़े होकर प्रो. स्वामीनाथन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। 'ही विल कम आर ही विल नाट कम' के कयास लगाये जा रहे हैं, 'एण्ड लो, ही कम्स लाइक ए नाइटिंगेल।' शेक्सपियरातुरों की यह भीड़ जितनी रंगप्रेमियों की थी, उतनी ही प्रो. स्वामीनाथन के प्रेमियों की भी। स्वामीनाथन साहब शेक्सपियर के चलते फिरते कम्पलीट वर्क्स थे। वे बैरक की सबसे बड़ी गैरेज में शेक्सपियर पढ़ाते थे, पढ़ाते क्या, सुनाते थे। वन मैन शेक्सपियर ड्रेमेटिक क्लब। शेक्सपियर के नाटकों का एकल वाचन। उनके हाथ में न कोई चिट है, न ही शेक्सपियर के किसी नाटक की पुस्तक। जो कुछ है, बस स्मृति की मंजूषा में है। स्मृति में ही नहीं, जिह्वा पर, कंठाग्र। उनको पुस्तकालय के कोने पर देखते ही हम लोग कक्षानुमा गैरेज में या गैरेजनुमा कक्षा में धकापेल घुसने का प्रयास करते। सबसे पीछे की सीट हथियाने के लिए। प्रो. स्वामीनाथन की कक्षा में वह अभागा ही होता जो सामने की बेंचों पर बैठना चाहे। जो जितना पीछे बैठेगा वह हेमलेट को या मैकबेथ को या शाईलाक को या रोमियो को उतना ही ज्यादा देख सकेगा क्योंकि स्वामीनाथन साहब केवल टॉकी ही नहीं, वॉकी भी थे। कुर्सी पर बैठकर पढ़ाते हुए मैंने उन्हें शायद ही कभी देखा हो। वे खड़े होकर भी नहीं पढ़ाते थे। वे कक्षा में घूमते हुए पढ़ाते। पूरी कक्षा में जब तक दस-बारह चक्कर न लगा लें, पीरियड खत्म ही नहीं होता था। पीछे की बेंचों पर बैठे हुए विद्यार्थी आते हुए स्वामीनाथन साहब को तो देखते ही, जाते हुए वक्ता को भी देखते। पर जो सामने की बेंच पर आसीन है वह कितना भी सिर घुमाये, पीठ पीछे के स्वामीनाथन साहब को सुन तो सकता था, देख नहीं सकता था। प्रकृति ने हा हंत, हमें पीछे की ओर दो आँखें क्यों नहीं दीं ! अब प्रकृति की चूक को सुधारने का एक ही उपाय

था, पीछे की बेंच पर बैठो, बैक टू द वाल। स्वामीनाथन साहब आ रहे हैं तो उनका सामना और जा रहे हैं तो उनका पीछा- तो धकापेल मचाते हुए होनहार विद्यार्थी, शेक्सपियर के दीवाने विद्यार्थी गैरेज में पीछे की बेंच हथियाने की कोशिश करते। अब मोबाइल स्वामीनाथन साहब को और मोबाइल शेक्सपीयर को कहीं से देखो, खांड की रोटी की तरह मीठी ही मीठी। मिलिट्री की गैरेजें मिलिट्री की ट्रकों के लिए थीं, सामने का दरवाजा ड्राईवर के लिए, पीछे का ट्रक के लिए। भारी भरकम हाथीपोल। उन गैरेजों में चाहे साठ विद्यार्थी बैठ जायें, चाहे सौ। सभी विद्यार्थी स्वामीनाथन साहब की कक्षा में कान ही कान होते, आँखें भी होतीं, पर कम। आँखें यह देखने के लिए कि शाइलाक बने स्वामीनाथन साहब के हाथ की तराजू कैसी है और छुरी कैसी। जब वे पाउंड आफ फ्लेश काटेंगे तो खून कहाँ-कहाँ बहेगा। स्वामीनाथन साहब मुँह से ही नहीं बोलते, आँखों से भी बोलते, हाथों से भी, ऊँगलियों से भी और चाल से भी। 'नाइदर ए बारोवर नार ए लेंडर बी' कहते हुए उनकी तर्जनी हवा मे लहराती। जब वे 'मेज़र फार मेज़र' की पंक्ति 'सम राइज़ बाई सिन, एंड सम बाइ वर्चू फाल' का उच्चार कर रहे होते तो गैरेज की छत की ओर देखते फिर फर्श की ओर। फाल की स्थिति प्रदर्शित करने के लिए स्वामीनाथन साहब ठिठके हुए हैं, कक्षा स्तब्ध है, हम मानव नियति की इस विडंबना पर मुँह बाये बैठे हैं।

विरोध और स्वीकृति, प्रेम और वितृष्णा, संवेदना और लानत जैसे उस गैरेज में मूर्तिमान हो उठते। स्वामीनाथन साहब 'रोमियो और जूलियट' पढ़ा रहे हैं, शेक्सपियर के बोलों के बीच में एक बोल उनका भी फूटता- दिवस के अवसान के समय के सूर्य की किरणें कक्षा में घुसी चली आ रही हैं - लड़कियों के चेहरे तप रहे हैं - स्वामीनाथन साहब से यह देखा नहीं जा रहा है- वे कक्षा को ललकार रहे हैं - 'विल वन आफ रोमियोज़ इन द क्लास गेट अप एंड क्लोज द डोर्स आफ द गैरेज लेस्ट द ग्लाइडिंग रेज़ आफ द सन रोब द डेमसेल्स आफ देअर रोजी कलर।' जिन समझा तिन धाइया गैरेज के उन विशाल कपाटों को बंद करने के लिए- एक आँख कपाटों पर होती, एक डैमसेल्स पर- देखो हम भी खड़े हैं तेरी राहों में।

स्वामीनाथन साहब का पूरा नाम स्वामीमलाई रामचन्द्रन स्वामीनाथन अय्यर था— ठेठ तमिल शैली में। छात्रवास में मेरा रूम पार्टनर एक तमिल था— नागपट्टम रत्नसभापति सुखनाथन पिल्ले। मैंने उससे इतने लम्बे नाम का रहस्य पूछा था। उसने बताया कि तमिलों के नामों में पहिला नाम उनके गाँव का होता है, दूसरा उनके पिता का, तीसरा उनका स्वयं का और चौथा उनका अल्ल अथवा उनका जातिबोधक। पूरा पोस्टल एड्रेस। एस.आर.स्वामीनाथन अय्यर का अर्थ था स्वामी मलाई गाँव के निवासी रामचन्द्रन के सुपुत्र स्वामीनाथन जो अय्यर जाति के हैं। हम लोगों ने 1952 के स्नेह सम्मेलन में उन्हें उपाधि दी थी -

स्वामीनाथन ते भई मोड़िन बड़ी बलाय।
स्वामी कहत लजात हैं, नाथन कह्यौ न जाय।

उन्हें हिन्दी नहीं आती थी। अतः उन्होंने इस विरुद का अर्थ जानना चाहा। जब उन्हें इसका वास्तविक अर्थ ज्ञात हुआ तो वे बड़े प्रसन्न हुए। वे मद्रास के प्रेसीडेंसी कालेज के एम.ए. थे। सागर आने के पहिले वे पूना के फार्ग्यूसन कालेज में अंग्रेजी के व्याख्याता थे। सागर विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति डॉ. हरीसिंह गौर उनसे, उनकी अंग्रेजी से बहुत प्रभावित थे। आते ही उन्हें कुलसचिव का दायित्व सौंप दिया था। विश्वविद्यालय के नियम, अध्यादेश बनाने में स्वामीनाथन साहब की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी पर वे शेक्सपियर में इतने रमे हुए थे कि राह चलते शेक्सपियर के संवाद बोलते चलते थे। वे विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के पहिले अध्यक्ष थे, रीडर हेड। शैली, कीट्स के अध्येता। शेक्सपियर उन्हें कंठस्थ था, पूरा का पूरा। आप शेक्सपियर के नाटक का एक संवाद बोल भर दें वे उसके आगे का पूरा नाटक सुना देते थे। जब वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में गये तो शेक्सपियर के गाँव स्ट्रेटफोर्ड आन एवन भी गये। एवन नदी के तट पर बसा स्ट्रेटफोर्ड। शेक्सपियर के गाँव के बारे में बताते हुए वे उच्छ्वसित हो जाते। शेक्सपियर बहुत पढ़ा लिखा नहीं था, अंग्रेजी भाषा और साहित्य की उसे विधिवत शिक्षा भी नहीं मिली थी, स्कूल के दिनों में उसने लैटिन और ग्रीक पढ़ी थी। चमड़े के व्यापारी का सामान्य बेटा, स्ट्रेटफोर्ड के थियेटर में आनेवाली बग्घियों का व्यवस्थापक। लंदन में मनोरंजन के बहुत साधन नहीं थे, अतः वहाँ के सामंत अपनी बग्घियों से थियेटर देखने स्ट्रेटफोर्ड आते। बग्घियों की रास शेक्सपियर को थमाते, शेक्सपियर उन सामंतों की बातचीत सुनता और नाटकों में उनका उपयोग करता। घर में उसका मन नहीं लगता था, स्वयं से बड़ी उम्र की पत्नी से उसकी खटपट होती रहती। शेक्सपियर ने अपनी जो वसीयत लिखी, उसमें अपनी पत्नी को उसने शयनकक्ष की दूसरी बढ़िया शैया विरासत में सौंपी। अंग्रेजी में शेक्सपियर की ढेरों जीवनियाँ हैं पर आधी सच, आधी काल्पनिक। पुराने जमाने में रचनाकारों के बचपन का कोई रिकार्ड तो होता नहीं था अतः जीवनीकार सेंधों को कल्पना से भरने में कोई संकोच नहीं करते थे। हिन्दी के हमारे युग के 'निराला' जैसे रचनाकारों की जीवनी पर काल्पनिकता के अनेक आरोप लगाये गये हैं। स्वामीनाथन साहब स्ट्रेटफोर्ड ऑन एवन के शेक्सपियर का संग्रहालय देखकर अचम्भित थे। ब्रिटिश कौम अपने इतिहास पुरुषों का कितना सम्मान करती है! शेक्सपियर की एक एक चीज वहां इतनी सँभालकर रखी गई है कि उस पर काल की धूल का एक कण भी नहीं पड़ा। स्वामीनाथन साहब से शेक्सपियर के गांव की प्रशंसा सुनकर मैं प्रेमचन्द के गाँव लमही गया था- यह सोचकर कि वहाँ प्रेमचन्द के फटेजूते, पेन, उनके ग्रंथों की पांडुलिपियाँ सुरक्षित होंगी पर प्रेमचन्द के उस अधबने मकान में सुरक्षित था गाँव का कचरा। हम भारतवासी अपने पुरखों के जितने दीवाने हैं उतने जानकार नहीं।

लपक झपक

लपक झपक उसका वास्तविक नाम नहीं था। नाम तो उसका था अविनाश भगत। स्वामीनाथन साहब अपनी अतिरिक्त कक्षा में 'रोमियो जूलियट' पढ़ा चुके थे। बता चुके थे कि

साहित्य के सार्वभौम और सार्वकालिक होने का कारण है मानव स्वभाव की एकता। जो आज है, वह कल भी था और जो लंदन में है, वह सागर में भी मिलेगा - बस ढूँढने वाला चाहिए। रोमियो जी खड़े हुए हैं, जूलियट ऊपर छज्जे पर है। रोमियो जी जूलियट को रिझा रहे हैं, कभी दायाँ हाथ उठाते हैं, कभी बायाँ, गरदन को बार बार खम देते हैं। उनकी कोई स्थायी जूलियट नहीं है। जिस भी लड़की को देखते, वही उनको अपनी जूलियट लगती है। शाम को जब वे कन्या छात्रवास मार्ग पर घूमने निकलते तो उनका लपक-झपकत्व अपने चरम पर होता। सभी उनको लपक झपक कहते - लपक झपक तू आरे बदरवा। लड़कियाँ उनको देखकर मुँह में पल्लू डालकर हँसतीं। स्वामीनाथन साहब के सार्वभौम और सार्वकालिक मानव स्वभाव के निरूपण का परिणाम यह हुआ कि बच्चन जी की 'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' हम लोगों को अच्छी लगने लगी। हमारी एक स्थायी समिति बन गई है- हनुमान, शंभु और मेरी। हनुमान अंग्रेजी में बी.ए. (आनर्स) कर रहे हैं, बेहद अधीत और प्रत्युत्पन्नमति, स्वामीनाथन के चहेते छात्र। शंभु और मैं अंग्रेजी साहित्य के छात्र भले न हों पर शेक्सपियर के पिपासु तो हैं ही। हमारी समिति ने स्थानीय रोमियो का संधान कर लिया है। लपक झपक हमारे कैंपस के रोमियो हैं।

स्वामीनाथन ने 'मर्चेंट आफ वेनिस' पूरा कर लिया है। उनकी पोर्शिया हमारी चेतना पर छायी हुई है - 'सो वाइज ए हेड आन सो यंग सोल्डर्स'। पर विश्वविद्यालय में ऐसी सुंदर, अधीत, बुद्धिमान पोर्शिया कहाँ मिलेगी ? हम लोग गहरे पानी में उतर रहे हैं- जिन खोजा, तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ। शेक्सपियर की पोर्शिया तरुणी है। क्या पुरुष पोर्शिया नहीं हो सकती? स्वामीनाथन ने मानव स्वभाव की एकता की बात कही थी, उसमें लिंग का बंधन कहीं नहीं था। हम लोग जाति, वर्ण, धर्म, लिंग से ऊपर उठ रहे हैं। पोर्शिया एक निरंतर कामना है - वह किसी भी तरुणी या तरुण में हो सकती है। शंभु को लगता है कि इतिहास विभाग में नये नये आये सुन्दर, सुदर्शन मेहरोत्रा साहब पोर्शिया क्यों नहीं हो सकते? हमारे पुराने कवि देव ने कहा था- रूप तो खत्रानी को। मेहरोत्रा साहब खत्री हैं - गोरे चिट्टे। उन्हें स्मिथ, चर्चिल, ट्रिगवेलियन की पुस्तकों के उद्धरण कंठस्थ हैं। वे दो दो मीटर लम्बे वाक्य बिना रुके बोल सकते हैं। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास के एम.ए. थे। डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी के सर्वाधिक प्रिय छात्र। अभी उनका एम.ए. का परीक्षा फल घोषित नहीं हुआ था पर कुलपति डॉ. त्रिपाठी ने उन्हें 'इन एंटीसिपेशन टू द अप्रूवल आफ द सेलेक्शन कमेटी एंड एकजीक्यूटिव काउंसिल' नियुक्त कर लिया है- खुशपोशाक, हँसमुख। हम लोग उनके छात्र थे पर उनका व्यवहार ऐसा जैसे हम उनके मित्र हों। मैंने, शंभु ने और प्रभात भट्टाचार्य ने उनके व्यक्तित्व और विद्वता के आकर्षण में एम.ए. में इतिहास विभाग में प्रवेश लिया था। हम लोगों को वे शेक्सपियर के 'वाइज हेड आन यंग सोल्डर' की शर्त्तों को पूरा करने वाले लगते। हमारे निर्णय की सूचना मेहरोत्रा साहब को दे दी गई है। वे नाराज नहीं हैं- पोर्शिया कहे जाने पर - कौन नाराज होगा? उन्होंने इतना ही कहा- तुम लोग बड़े बदमाश हो।

आज केसियस की तलाश है। 'जूलियास सीज़र' के केसियस की। 'ही इज़ लीन एंड थिन, ही थिंकस टू मच'-कहकर शेक्सपियर ने केसियस का चुनाव बहुत सीमित कर दिया है। 'लीन एंड थिन'- छात्रों पर निगाहें टिक रही हैं- पर केवल दुबले पतले होने से काम नहीं चलेगा- ही थिंकस टू मच' के साथ साथ उसका 'डेंजरस' होना भी जरूरी है। मैं लीन हूँ, थिन भी। थोड़ा बहुत सोच भी लेता हूँ। कुछ दिनों पहिले छात्रावास संघ की पत्रिका 'भारती' में मैं तत्कालीन शिक्षामंत्री को एक खुला पत्र लिख चुका हूँ- मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने कई सभाओं में कहा था, संसद में भी वे कह चुके थे कि मेरा बस चले तो मैं आजाद हिन्दुस्तान की शिक्षानीति को यूँ बदल दूँ, त्यूँ बदल दूँ। मैंने उनसे उस खुले खत में पूछा था कि शिक्षा नीति बदलने में हिन्दुस्तान के शिक्षामंत्री का बस नहीं चलता तो किसका चलता है? उस खुले पत्र को पढ़कर विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ. रामप्रकाश त्रिपाठी ने मुझे बुला भेजा था और मेरी पीठ ठोकी थी- यूथ को इसी तरह 'डेंजरस' होना चाहिए - सो कान्तिकुमार जी लीन एंड थिन तो भगवान के बनाये हुए थे- थिंक करना और डेंजरस बनना उनका अपना चुनाव था। शेख अब्दुल के मामले में प्राक्टर पं. राजनाथ पाण्डेय को मेरी तलाश थी। 'प्रहरी' में शेख साहब के पक्ष में और प्राक्टर साहब के विरोध में पत्र किसने लिखा, यह जानने के लिए वे पं.भवानी प्रसाद तिवारी और हरिशंकर परसाई को भी खंगाल रहे थे पर मामला चूँकि सांप्रदायिक सौमनस्य का था इसलिए तिवारी और परसाई मेरे पत्र को गोपनीय बनाये हुए थे। पर मेरी डेंजरसता की बात पूरे विश्वविद्यालय में फैल चुकी थी। मुझे केसियस कहे जाने में किसी को कोई एतराज नहीं था। स्वामीनाथन साहब के माध्यम से शेक्सपियर के नाटकों के पात्रों का कुनबा सागर विश्वविद्यालय में बढ़ रहा था। कैंपस में शेक्सपियर के पात्र चलने फिरने लगे थे- प्रो.स्वामीनाथन के माध्यम से।

सन् पचास के दशक में, आज से साठ-पैंसठ साल पहिले, सागर विश्वविद्यालय के ट्रक गैरेजों में हमारा परिचय जिस शेक्सपियर से हुआ था वह आज तक न धुँधला हुआ है, न ही मिटा है। आज भी मैं कहीं शेक्सपियर का नाम पढ़ता या सुनता हूँ तो मुझे ट्रक गैरेजों में चंक्रमण करते हुए शेक्सपियर सखा स्वामीनाथन साहब की बेसाख्ता याद आती है और उनकी आवाज कानों में गूँजने लगती है।

गुलजार ने शेक्सपियर के 'ट्वेल्थ नाइट' से प्रेरित होकर 'अंगूर' नामक फिल्म बनाई थी। 'ट्वेल्थ नाइट' मैंने स्वामीनाथन साहब से ट्रक गैरेज की उनकी चंक्रमण शील कक्षा में ही सुनी थी - उसके आगे मुझे गुलजार के 'अंगूर' में मजा नहीं आया था— 'जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो, केहि करील फल खावै'। - स्वामीनाथन साहब शेक्सपियर के हवाले से कहते थे— 'सम आर बार्न ग्रेट, सम अचीव ग्रेटनेस एंड सम हैव ग्रेटनेस थ्रस्ट अपान देम।' आज के दौर में जब ग्रेटनेस अधिकांश लोगों पर लाद दी जाती है, शेक्सपियर सचमुच पैदा ही महान् हुआ था, स्वामीनाथन ने ग्रेटनेस अचीव की थी।

शेक्सपियर से हमारा जो प्रेम हुआ था वह किसी खोज का परिणाम नहीं था, वह हमें बिना किसी प्रयास के ही मिला था- 'लव साट इज गुड बट गिवेन अनसाट इज बेटर।'

उन दिनों हम छात्र आपस में बातचीत करते तो अनायास स्वामीनाथन साहब के मुँह से सुने हुए वाक्यांश मुख से निकल ही जाते। किसी मित्र ने धोखा दिया तो 'यू टू ब्रूटस', कोई अकारण ही आशंका ग्रस्त है तो 'डेंगर्स इन द एअर', कोई शाईलाक जैसी हृदयहीनता का परिचय दे रहा है तो 'पाउंड आफ फ्लेश', किसी ने चातुर्य और विदग्धता का परिचय दिया है तो वा तो पोर्शिया आये, किसी का मनीआर्डर नहीं आया है और वह अपरिचित के साथ घूम रहा है तो 'मिजरी एक्विंट्स ए मैन विथ स्ट्रेंज बेड फेलोज' कहकर हम लोग अपनी अध्ययनशीलता का परचम लहराते। कुलपति डॉ. रामप्रकाश त्रिपाठी सागर से प्रायः बाहर ही रहते; प्रशासन का दायित्व अधिकतर कुलसचिव, अधिष्ठाता, प्राक्टर निभाते। हम छात्र इस अव्यवस्था से त्रस्त हो गये थे, शिवकुमार श्रीवास्तव छात्र संघ के अध्यक्ष थे, उनके नेतृत्व में 21 दिनों की ऐतिहासिक हड़ताल हुई थी- 'प्राक्टर पांडे जुल्मी है, वायस चांसलर फिल्मी हैं' जैसे नारे हवा में गूंज रहे थे। हनुमान प्रसाद वर्मा हमारे सचिव थे- सिद्धवाक वक्ता, बी.ए.आनर्स अंग्रेजी के छात्र। उनके नेतृत्व में हम लोग उपकुलपति से मिलने गये थे। उस समय कुलपति उपकुलपति कहलाता था। हमारी शिकायतों और आरोपों का उपकुलपति जी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो हनुमान वर्मा ने कहा, 'सर एलाऊ मी टू से दैट एवरी थिंग इज़ राटन इन द स्टेट आफ डेनमार्क।' इलाहाबाद विश्वविद्यालय से आये, अंग्रेज पत्नी के पति कुलपति हनुमान के इस यथार्थ कथन से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सारे कैंपस का पांव पैदल दौरा किया, बिना दरवाजों वाले शौचालयों को झांक झांक कर देखा, छात्रावास से अचानक गुल हो जानी वाली बिजली का जायजा लिया और हमारी अधिकांश माँगे पूरी हो गयीं।

स्वामीनाथन साहब ने हमें बताया कि शेक्सपियर के नाटकों की भाषा उस समय के समाज की बोलचाल की भाषा थी। किसी भी रचनाकार को अपनी रचना को जीवित और जीवंत बनाने के लिए जनता के बीच जाना चाहिए। प्रेमचन्द महादेवी से मिलने गये हैं। महादेवी स्नानागार में हैं। प्रेमचन्द उनकी परिचारिका भक्तिन से पेड़ के नीचे चबूतरे पर बैठकर गप्पे मार रहे हैं और अपने कथा साहित्य में वैसा लिख रहे हैं जैसा भक्तिन से उन्होंने सुना था। परसाई तो रात में बस की यात्रा करते ही नहीं थे। वे बस के सहयात्रिओं से बोलते बतियाते थे, उन्हें भाषा के नये नये तेवर मिलते थे। यह हमें स्वामीनाथन साहब ने तो नहीं बताया, उन्हें हिन्दी आती कहाँ थी पर वे कहते थे कि जो धारदार भाषा और संवाद लिखना चाहता है, उसे ठेलेवालों, सईसों, दाइयों, बाइओं और नाइयों से जरूर दोस्ती करनी चाहिए। शेक्सपियर प्रेमी स्ट्रेटफोर्ड ऑन एवन की यात्रा करना वाराणसी के विश्वनाथ मंदिर या मक्का मदीना की यात्रा से कम नहीं मानते। हमारे विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग अपने छात्रों को लेकर जम्मू-काश्मीर तो जाते हैं, खजुराहो भी जाते हैं, सांची और इमामवाड़े की यात्रा भी करते हैं पर कभी प्रेमचन्द के, निराला के, नागार्जुन के गाँव गये हों मुझे पता नहीं। एक बार प्रसिद्ध कवि और अध्यापक

डॉ. जगदीश गुप्त सागर आये थे, वे पद्‌माकर का घर देखना चाहते थे, पर किसी को पदमाकर के घर की अवस्थिति का ठीक ठीक ज्ञान नहीं था। इधर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर और अध्यक्ष सुरेश आचार्य बुंदेलखंड के साहित्यकारों, संगीतज्ञों, रंगकर्मियों, चित्रकारों, योद्धाओं और श्रेष्ठ अध्यापकों का एक स्मृति संग्रहालय बनाने की योजना बना रहे हैं। हम सबका कोई न कोई स्ट्रेटफोर्ड आन एवन होना ही चाहिए।

वर्ष में एक बार शेक्सपियराना ड्रेमेटिक कंपनी सागर आती। लगभग वर्षान्त में। बड़े दिन की छुट्टियों के ठीक पहले विश्वविद्यालय का स्नेह सम्मेलन होता। स्नेह सम्मेलन उन दिनों विश्वविद्यालय के पारस्परिक स्नेह का सम्मेलन होता। श्रीमती बनमाला भवालंकर 'उधारच्या नौरा' की हिन्दी प्रस्तुति 'उधार का पति' पेश करती। वे संस्कृत विभाग में प्राध्यापक थीं, महिला छात्रावास की अधीक्षक। इसी स्नेह सम्मेलन में वाणिज्य विभाग के अध्यापक तरुण राजेन्द्र राय अपना कवि दरवार सजाते। चन्दबरदाई से लेकर गोपालदास नीरज की छवियों में विद्यार्थी कविता पाठ करते। 'मैं नीर भरी दुःख की बदली' का पाठ करनेवाली प्रभा श्रीवास्तव महादेवी बनतीं। विमला मुखार्या मीरा का 'हे री मैं तो प्रेम दिवानी' का पाठ करतीं। इसी दौर में शेक्सपियराना शेक्सपियर के नाटकों का अभिनय करती। यह कंपनी शायद कलकत्ता की थी। स्वामीनाथन साहब के आमंत्रण पर सागर आनेवाली इस थियेटर कंपनी में सभी झकाझक अंग्रेज थे - बड़े-बड़े संदूक उतर रहे हैं - स्वामीनाथन साहब के निवास का बगलवाला रेस्ट हाउस उनके लिए आरक्षित है। तोताराम कैंटीन उनके खानपान का प्रबंध करती। बाद में जब डॉ. अमर मुखर्जी इलाहाबाद से कुलपति द्वारा अंग्रेजी विभाग के रीडर नियुक्त किये गये, तो शेक्सपियराना की सभी व्यवस्था उनको सौंप दी गयी। इस साल ओथेलो, मैकबेथ, हेमलेट का अभिनय हुआ है, अगले साल जूलियस सीजर, ट्वेल्थ नाइट, मर्चेंट आफ वेनिस का होगा। शेक्सपियराना का मंचन देखने के लिए विश्वविद्यालय का पूरा स्टाफ उमड़ पड़ता क्योंकि प्रथम पंक्ति में कुलपति होते, उनकी अंग्रेज पत्नी और अंग्रेज पत्नी के अंग्रेज बेटे और बेटी। बेटी का नाम मुझे अभी भी याद है डल्सी कैंटी। बेटे का भूल गया। हम लोग जो स्वामीनाथन साहब से शेक्सपियर का पाठ सुन चुके होते, अंग्रेजी अभिनेता, अभिनेत्रियों का उच्चरण कुछ कुछ पकड़ लेते। शेष दर्शक अंदाज से हँसते या गंभीर रहे आते। पीछे से बुंदेलखंडी में आवाजें कसी जाती - काय साईलाक, तुम अपनो पौआ भर गोस लिये बिना नई मानहौं। आन तो दो पोरसिया बाई को, तुमारी एक न चल्है- कोई सिरफिरा नारा भी लगा देता, साईलाक हाय हाय, पोरसिया जिन्दा बाद।

स्वामीनाथन साहब शेक्सपियराना के सारे रंगकर्मियों में समादृत थे। उन्हें अपने अपने चरित्रों के पाठ याद थे पर स्वामीनाथन साहब को पूरा का पूरा शेक्सपियर कंठस्थ था। वे कहते कोई तो है जो शेक्सपियर को शेक्सपियर से ज्यादा समझता है।

एक बार स्वामीनाथन साहब ने मुझे गीता के दर्शन का अर्थ समझाया-शेक्सपियर के शब्दों में। 'लाभा लाभौ जया जयौ' और 'मा फलेषु कदाचन' का शेक्सपियरी भाष्य। मैं

बी.ए. के बाद एम.ए. इतिहास का विद्यार्थी था– पूर्वार्द्ध की परीक्षा के एक प्रश्नपत्र में मेरी घड़ी बंद हो गयी। समय का पता ही नहीं चला। परीक्षा भवन में जब भी मैं जाता था तो मेरे पेन में स्याही नहीं, विषय वस्तु भरी होती थी। जब इनविजीलेटर ने कहा– 'पाँच मिनट और तब तक मेरे केवल 2½ प्रश्न ही हो पाये थे। परीक्षा फल आया तो द्वितीय श्रेणी- 59%। जीवन में मुझे द्वितीय श्रेणी कभी मिली ही नहीं थी। द्वितीय श्रेणी मुझे स्वीकार ही नहीं थी। मैं दुखी था। मैंने विषय परिवर्तन का निश्चय किया। जुलाई 52 में ग्रीष्मावकाश के उपरांत मैं स्वामीनाथन साहब के निवास पर पहुँचा था, उनकी बेटी मालती और बेटे अप्पा जी को हिन्दी पढ़ाने के लिए। मैं दोनों को पढ़ा रहा था कि स्वामीनाथन कमरे में आये। उन्हें मेरी असफलता की सूचना थी। बोले- अंग्रेजी में। जीवन में ऐसी घटनाओं से हताश या निराश नहीं होते। फिर उन्होंने शेक्सपियर की पंक्तियाँ सुनायीं :

When the last great scorer comes to write against your name,
He will not ask whether you won or lost,
But how you played the game

मुझे स्वामीनाथन साहब की बात जीवनभर याद रही आयी। 'हाऊ यू प्लेड द गेम।' यह बात वैसे तो विलियम शेक्सपियर की थी पर मुझे मिली थी प्रो. स्वामीनाथन से। मैं स्वामीनाथन साहब का कृतज्ञ हूँ।

शेक्सपियर के नाटकों का जो पहिला हिन्दी अनुवाद मैंने पढ़ा था, वह था अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'वेनिस का सौदागर'। 'हरिऔध' जी कवि तो अच्छे थे, संस्कृत वर्णवृत्तों में खड़ीबोली में कविता लिखने में पारंगत। 'प्रियपति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है? दुःख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है' जैसे वर्णवृतों के कारण उनका 'प्रियप्रवास' चर्चा में था। 'चोखे चौपदे', 'चुभन्ते चौपदे' जैसे चौपदे बोलचाल की मुहावरेवाली हिन्दी लिखने में भी वे माहिर थे पर शेक्सपियर के चुटीले, अर्थभेदी संवादों को हिन्दी में ढालना थोड़ा मुश्किल था। शेक्सपियर के नाटकों के हिन्दी अनुवाद किये तो बहुत से लोगों ने, पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक और 'मधुशाला' के प्रसिद्ध कवि हरिवंश राय बच्चन का शेक्सपियर का अनुवाद बड़े श्रम से किया गया है पर इन अनुवादों के संबंध में हिन्दी विद्वानों की राय अच्छी नहीं है। प्रसिद्ध कवि और समीक्षक बालकृष्ण राव ने लिखा 'शेक्सपियर के नाटकों.... का उल्था बच्चन के साहित्यिक कृतित्व में विशेष उल्लेखनीय या स्मरणीय माने जायेंगे, इसमें संदेह है।'' वास्तव में अनुवाद एक नाजुक कार्य है। वह यदि सुंदर हो तो चरित्रहीन माना जाता है और यदि ईमानदार है तो उसकी सुन्दरता संदिग्ध मानी जाती है।

मध्यप्रदेश के स्वनामधन्य मुख्य सचिव श्री नरोन्हा को जब अपनी आत्मकथा के लिए नाम ढूँढना था तो वह उन्हें शेक्सपियर के 'मैकबेथ' में मिला– 'टेल टोल्ड बाई एन ईडियट फुल आफ साउंड एंड यूरी, सिंगनीफाइंग नथिंग।' नरोन्हा साहब की आत्मकथा का नाम है– 'टेल

टोल्ड बाई एन ईडियट'। नरोन्हा साहब बड़े अधीत, बड़े विदग्ध और बड़े परिहास रसिक थे, उन जैसा कुशल प्रशासक मिलना कठिन है। मैं उन्हें जगदलपुर (बस्तर) से जानता था। बस्तर के आदिवासियों के बीच वे किंवदंती पुरुष थे। जब जगदलपुर को छूकर बहनेवाली अष्टवक्रा इंद्रावती का पुल बाढ़ में डूब जाता था और आवागमन अवरुद्ध हो जाता था तब कलेक्टर नरोन्हा अपनी मोटर नौका में आयी हुई डाक को लेने के लिए उस पार जाया करते थे। उनके लिए लांदा पीना और हलबा लोगों के साथ नाचना जितना सहज था उतना ही कठोर से कठोर निर्णय लेना भी। उन्होंने अपनी आत्मकथा में मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्रियों के नखशिखात्मक चित्र खींचे हैं, वे कमाल के हैं पर उससे भी बड़ा कमाल है स्वयं पर हँस सकने की उनकी वृत्ति। वे भारत के अंतिम आई.सी.एसों में थे- कलेक्टर हो चाहे कमिश्नर 'टेल टोल्ड बाई एन ईडियट' पढ़े बिना उसे प्रशासन के इमामबाड़े का राज पता नहीं चल सकता। बीच में कोई उनकी आत्मकथा का हिन्दी अनुवाद करना चाहता था। पता नहीं वह अनुवाद पूरा हुआ या नहीं। समस्या थी हिन्दी में ईडियट को क्या कहा जाये? महामूर्ख, मतिमंद। शायद ईडियट को ईडियट कहना ही संगत है। 'थ्री ईडियट्स' भी शेक्सपियर के ईडियट से प्रभावित हो तो क्या आश्चर्य। नरोन्हा जैसे 'ईडियट' पर कोटिन चतुर सुजान वारिये। 'लाइफ इज बट ए वाकिंग शेडो, ए पुअर प्लेयर' कहने वाला शेक्सपियर ही महान् नहीं था, स्वयं को ईडियट कहने वाले नरोन्हा भी महान थे। मैं जितनी बार 'टेल टोल्ड बाई एन ईडियट' पढ़ता हूँ, जीवन के प्रति मेरी आसक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। नरोन्हा साहब को एक बार हम लोगों ने भोपाल के हमीदिया कालेज में स्टाफ क्लब में आमंत्रित किया था। उन्होंने अपने भाषण में कहा था कि अंग्रेजी सीखने का सबसे आसान उपाय है-अंग्रेजी के जासूसी उपन्यास पढ़ना। अगाथाक्रिस्टी, आर्थर कानन डायल, बोड हाउस पढ़ने की मेरी रुचि नरोन्हा साहब ने ही जागृत की। मुझे लगता है अंग्रेजी सीखने का सबसे कारगर उपाय है स्वामीनाथन साहब से शेक्सपियर के नाटकों का वाचन सुनना और जासूसी उपन्यास पढ़ना।

एक दिन स्वामीनाथन साहब को पता नहीं क्या सूझा कि उन्होंने यह जानने के लिए कि हम छात्र शेक्सपियर के उनके वाचिक संस्करण को कितना हृदयंगम कर रहे हैं, हिन्दी अनुवाद के लिए हमें एक वाक्य दिया— If music be the food of love, play on - William Shakespear. हम लोग अगले दिन अपने अपने अनुवादों के साथ कक्षा में उपस्थित थे। कक्षा में शेक्सपियर का शौकीन एक लड़का था- जालम सिंह बोथरा- कहीं कुक्षी तरफ का था। काला किट्ट, भुजंग, ऊँचा पूरा, तगड़ा। हिन्दी प्रेम और विखंडन वादी रुझान के कारण पूरा विश्वविद्यालय जालम सिंह को जानने लगा था। वह Nature को नटूरे कहता और Future को फटूरे। उसने Nightingale का हिन्दी अनुवाद किया- रात में अंधड़। Night यानी रात, in यानी में, gale यानी अंधड़। लो कर लो, जालम सिंह का कोई क्या कर सकता है। कुछ दिन पहिले ही दत्ता साहब की अंग्रेजी कक्षा में एक ऐसी घटना घटी थी कि जालम सिंह विश्वविद्यालय

विश्रुत हो गये थे। 'प्राइड एंड प्रीजुडिस' पढ़ाने वाले दत्ता साहब की इंटरमीडियेट की कक्षा में तन्वंगी श्यामल वर्ण शान्ति भट्टाचार्य अपने भाई का सूट पहिनकर आयी थीं। दो चोटियाँ लहराते हुए उन्होंने हम सबका ध्यान खींचा था। दत्ता साहब का भी किन्तु किसी ने शांति से कुछ कहा नहीं। दूसरे दिन उसी कक्षा में जालम सिंह बोथरा- काले भुजंग ऊँचे पूरे बोथरा औरतों वाला लुगड़ा पहिनकर अवतरित हुए- पोलका उनके नाप का कहाँ मिलता तो अपनी कमीज को लुगड़े में ढाँके मूँदे। पहिली रो में बैठे थे। दत्ता साहब आये, जालम को देखा तो भड़क गये। यू यू जालम सिंह, हाउ डेयर यू कम इन द क्लास लाइक दिस। गेट आउट। पर जालम सिंह अपने मौलिक अधिकारों के प्रति बहुत सजग थे, दत्ता साहब की फटकार से वे न हतप्रभ हुए, न ही संकुचित। काय सर, हम काय गेट आउट हो जायें। कल सांति बाई पेंट कमिज में क्लास में आई हतीं तो उनको आपने गेट आउट नहीं कही, हमने का कर दई कि हम गेट आउट हो जायें। उन्होंने अपने लुगड़े का पल्ला खींचा और ठेठ देसी अंदाज में बोले- गेट आउट होने हो तो आप हो जाओ। ये कहाँ लिखो है कि मोड़ा धुतिया में क्लिास में नईं आ सकें। दत्ता साहब 'प्राण! तुम कोमल कोमल गात' किस्म के व्यक्ति थे, उन्होंने अपना रजिस्टर संभाला और क्लास से गेट आउट हो गये। उन्होंने विभागाध्यक्ष स्वामीनाथन साहब से जालम सिंह बोथरा की बत्तमीजी की शिकायत की पर स्वामीनाथन साहब न्याय प्रिय व्यक्ति थे। डाइलेमा के हार्न पकड़ने में निष्णात सो उन्होंने न जालिम सिंह को दंडित किया, न ही दत्ता साहब से कुछ कहा- उनका सेक्शन भर बदल दिया।

स्वामीनाथन साहब ने If music be the food of love, play on- William Shakespeare का अनुवाद जानना चाहा तो सबसे पहिला हाथ उठा, जालम सिंह का। जालम ने क्या कहा जब किसी की समझ में नहीं आया तो स्वामीनाथन साहब ने उन्हें श्यामपट पर जाने का संकेत किया। सर, खड़िया। खड़िया, स्वामीनाथन साहब की समझ में नहीं आया। हम लोगों ने उनकी सहायता की, सर, चाक स्टिक।

बोथरा बहादुर खड़िया लिये ब्लैक बोर्ड के सामने खड़े हैं। उन्होंने खड़िया मिट्टी से, अपने डीलडौल के अनुरूप ब्लैक बोर्ड पर लिखा WILLIAM SHAKES PEAR, WILL के नीचे एक लकीर खींची और उसके नीचे लिखा 'गा'। फिर एक लकीर, I के नीचे 'मैं', AM के नीचे भी एक लकीर और नीचे उसका अनुवाद 'हूँ'। अब शेक्स की बारी आयी- हिला। पियर के नीचे एक लकीर और उसके नीचे कटपिट यानी इसका अर्थ हमें नहीं आउत। विलियम शेक्सपिर का बोथराना हिन्दी अनुवाद हुआ 'हूँगा मैं हिला पियर'। स्वामीनाथन साहब को पहिले बार कुर्सी पर बैठे हम लोग देख रहे हैं, उन्होंने अपने दोनों हाथों से सिर पकड़ लिया है, हम लोग मना रहे हैं कि धरती फट जाये और हम उसमें समा जायें पर बीर बहादुर के चेहरे पर शिकन नहीं हैं- वे If music be the food of love, play on- William Shakespeare का अनुवाद करने में जुटे हैं। गम्मत यदि मुहब्बत का रातब है तो खेले जाओ। स्वामीनाथन साहब कक्षा छोड़ कर चले गये।

उसके बाद तीन चार दिन वे शेक्सपियर पढ़ाने नहीं आए। बोथरा जैसे विखंडनवादी के सामने उन्होंने हथियार डाल दिये हैं। तीन चार दिन बाद हम लोग उन्हें मनाकर पुनः शेक्सपियर की कक्षा में लाये हैं। उन्हें अपने शेक्सपियरोत्साह पर शक होने लगा है, उनके विरोधियों को मजा आ रहा है।

यदि कोई रचनाकार बनना चाहे तो परसाई जी कहा करते थे, उसे तुलसीदास, गालिब और शेक्सपियर को पढ़ना चाहिए। जीवन में सद्-असद् का विवेक जाग्रत करने में तुलसी जितने पटु हैं, विश्व का दूसरा साहित्यकार नहीं। जीवन की विसंगतियों की पहिचान हमें गालिब से होती है और जीवन की विविधता जानने के लिए हमें शेक्सपियर का अवगाहन करना चाहिए। 'देशबंधु' के संपादक और यशस्वी रचनाकार ललित सुरजन ने मुझे बताया कि उन्होंने परसाई की सलाह पर इन तीनों का खूब अध्ययन किया पर अंग्रेजी के महान् अध्यापक, उर्दू के कालजयी शायर और मौलिक विचारक रघुपति सहाय फिराक़ इस त्रयी में एक नाम और जोड़ते हैं।

शेक्सपियर के जन्म की चारसौवीं जयंती थी 1964 में। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सभागार में एक विराट समारोह आयोजित था। देश देश के भूपति नाना उपस्थित थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंग्रेजी के भूतपूर्व प्रोफेसर रघुपति सहाय 'फिराक़' अध्यक्षता कर रहे थे। किसी वक्ता ने अभी-अभी कहा था कि शेक्सपियर ने मानव चरित्रों का एक संसार रचा है जो विश्व साहित्य में अप्रतिम है। फिराक़ साहब भड़क गये थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में वे कह रहे थे कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह शेक्सपियर के विद्यार्थियों के लिए नहीं है, वह अग्रिम पंक्ति में बैठे हुए शेक्सपियर के अध्यापकों के लिए है। शेक्सपियर ने निश्चय ही मानव चरित्रों का एक नायाब संसार रचा है पर मानव चरित्रों का जैसा विलक्षण, असाधारण, अनन्य संसार महाभारत के वेदव्यास ने रचा है, वह अद्वितीय है। भीम और अर्जुन, धृतराष्ट्र और गाँधारी, शिखंडी और अभिमन्यु जैसे एक एक पर महाकाव्य लिखे जा सकते हैं। उस दिन फिराक़ साहब की बात का कोई प्रत्याख्यान नहीं कर सका था- मैं भी नहीं कर रहा। शायद परसाई जी भी फिराक़ साहब की बात से सहमत होते।

पता नहीं अब स्वामीनाथन साहब कहाँ हैं ? वे सागर से जबलपुर चले गये थे। वहाँ से अमेरिका। पता नहीं, वे अब हैं भी या नहीं। उन जैसे अध्यापक कभी भूतपूर्व नहीं होते। उन्होंने शेक्सपियर को हमारे लिए अमर कर दिया। हमारे लिए शेक्सपियर जो कुछ है वह स्वामीनाथन साहब के कारण है, महान, जीवन से एकाकार और बिल्कुल अपने।

विद्यापुरम्
मकरोनिया कैम्प, सागर, मध्य प्रदेश
दूरभाष- 07582-262354

आचार्य की मौजूदगी

–विजय बहादुर सिंह

वह 1964 की जुलाई माह की कोई एक सुबह थी जब मैं कोलकाता से चलकर रिसर्च करने के प्रयोजन से उनके पास पहुँचा था। इससे दो साल पहले मैं यहीं के हिन्दी विभाग से एम.ए. की पढ़ाई करता हुआ फाइनल परीक्षा में फर्स्ट क्लास फर्स्ट पा चुका था किन्तु उस समय जैसी आर्थिक तंगी में था, यह संभव ही नहीं था कि मैं घर की मदद से रिसर्च कर पाता। इसलिए चिट्ठी लिखकर उनका मन पहले से जान लिया था कि जो भी संभव मदद होगी वे करेंगे। पर पहुँचते ही, जो पहला, सवाल उन्होंने मेरे सामने फेंका, उससे मैं घबड़ा गया– 'हाँ, तो आप किसके साथ रिसर्च करना चाहेंगे?' इस सवाल के लिए तो मैं निश्चय ही तैयार नहीं था। पल-दो पल की असहजता से निपटकर मैंने हिम्मत जुटा, पूरी दृढ़ता किन्तु विनम्रता से कहा– मैं तो आप ही के साथ काम करने आया हूँ। 'मेरे साथ कैसे कर सकते हैं आप। आपकी रुचि का क्षेत्र प्रयोगवाद और नई कविता है। इसलिए आप चाहें तो शिवकुमार जी (मिश्र) या फिर झा जी (गंगाधर) के साथ करने की अनुमति दे सकता हूँ। इन दोनों में से आप चुन लें।' इतना कह गेंद जैसे उन्होंने मेरे पाले में डाल दी।

आचार्य वाजपेयी के इन वाक्यों का सामना करते हुए मैं जैसे आकाश से ज़मीन पर आता जा रहा था ये वाक्य मेरे लिए अप्रत्याशित जैसे थे। खत लिखकर उनके बुलावे पर ही तो मैं सागर वापस लौटा था। चंद महीनों पहले ही उन्हीं के निर्देशन में मैंने धर्मवीर भारती पर लघु-प्रबंध भी प्रस्तुत किया था। तब इतने ही दिनों में मुझसे ऐसा क्या हो गया कि वे अपनी छाया तक से मुझे वंचित करना चाहते हैं।

थोड़ी देर के लिए तो मैं असंतुलित सा ही हो उठा, थोड़ा घबराया भी, लेकिन जल्दी ही दुबारा साहस बटोरते हुए कहा– अन्य किसी के साथ करने के बारे में तो मैं सोच भी नहीं सकता। यह तो मेरे जीवन की सबसे प्रबल साध है। आपकी स्वीकृति नहीं मिल सकी तो लाचार हो लौट जाऊँगा।

मेरे इन वाक्यों से उनके चेहरे के भाव किंचित बदले और नरम पड़े फिर भी उन्होंने कहा– 'लेकिन आप मेरे साथ करेंगे कैसे? मेरा कोई निर्देश तो आप मानते नहीं। बताता मैं कुछ हूँ। आप लिखकर कुछ और लाते हैं'। मैंने याद किया, उनकी बातों में सच्चाई है। 'अंधा युग' जैसी कृतियों पर उन्होंने जो संकेत-निर्देश दिया था, न जाने क्यों मैं तब वैसा सोच

नहीं पाया। उन्होंने यह मूल प्रश्न उठाया था कि देश को आजाद हुए अभी कितने बरस हुए ही हैं और कवि कह रहा है कि 'अंधा युग' आ गया है। फिर जिस कालखण्ड को वह 'अंधा युग' कह रहा है, वह हमारे सांस्कृतिक इतिहास और माइथोलॉजी का सबसे भास्वर काल है। कृष्ण उस काल के सबसे बड़े महापुरुष हैं जिनसे आज भी हमें रोशनी मिलती है तब कवि को इतनी आजादी किस आधार पर मिल जाती है कि वह हमारे नब्बे-सौ सालों के स्वाधीनता आन्दोलन के संग्राम के बाद पाई गई आजादी और ऐतिहासिक गणतंत्र को 'अंधा युग' कहे? क्या सचमुच हम एक मूल्यहीन और मर्यादाहीन समाज में रह रहे हैं? या फिर वह यह सब अस्तित्ववादियों के प्रभाव में लिख रहा है?

पता नहीं क्यों मैं उनकी इस दृष्टि को तब पकड़ नहीं सका था। मैं तो 'अंधा युग' की कलात्मक संरचना को लेकर इतना मुग्ध था कि उनकी बातों की गहराई मेरी पकड़ से बाहर ही रही। सच यह भी कि उन कच्चे दिनों में टी.एस.इलियट जैसों का नशा भी मेरे मन पर खूब था और मैंने अपनी सारी ताकत उसमें झोंक दी थी कि 'अंधायुग' हिन्दी के लिए एक ऐतिहासिक और चमत्कारिक उपलब्धि है। विधा की दृष्टि से भी एक नया प्रवर्तन और प्रस्थान। मेरा ध्यान उसके वस्तुपक्ष पर लगभग गया ही नहीं। इस बात पर भी कि आचार्य वाजपेयी उसे भारतीय प्रबंध काव्य की परंपरा में देखने की पहल कर रहे हैं किन्तु कवि को यह छूट देने को तैयार नहीं हैं कि वह परंपरा की उज्ज्वलता के बदले उसकी कालिख की पुनर्रचना करे।

समकालीन राष्ट्रीय राजनीति और रामायण-महाभारत जैसे हमारे काव्यों की जो प्रभाव-भूमियाँ हैं, इनमें मानवता के ऊँचे आदर्शों के प्रति जो उन्मुखता, लगाव और इनके लिए किए जाने वाले कठिन संघर्ष हैं, उन्हें दरकिनार कर हम एक ऐसे काव्य-पथ पर कैसे बढ़ सकते हैं जो मानवता में विश्वास ही नहीं करता। या संदेह, भय, षड्यंत्र, प्रतिशोध और हिंसा को ही पारस्परिक विश्वास और आस्था से अधिक प्रबल मानता है।

आचार्य वाजपेयी के चिंतन में उन दिनों जो बातें प्रमुखता से आग्रह के रूप में प्रकट हो रही थीं उनका सार यही था कि भारत जैसे अति प्राचीन देश को अपना 'केन्द्र' नहीं छोड़ना चाहिए। 'राष्ट्रीय साहित्य' वाले अपने लेख में वे यह लिख चुके थे कि 'अपने केन्द्र में स्थित रहकर, एक सचेतन प्राणी के समान उसे आत्मसात कर ही, हम उसका उचित और स्वस्थ उपयोग कर सकते हैं'। यह भी कि 'आधुनिकता भारत के लिए पश्चिम से नहीं, केवल आधुनिक भारत से ही नहीं, किन्तु समस्त भारतीय संस्कृति के पुनर्मूल्यांकन और आयत्तन के द्वारा ही अर्थ ग्रहण कर सकते हैं'।

एम.ए. के छात्र के रूप में उनकी ये बातें मेरे लिए न केवल अग्राह्य बल्कि अगम भी थीं। तब मैं उनके इन गंभीर और सूक्ष्म विचारों का सिरा कैसे पकड़ पाता जबकि अज्ञेय, भारती, प्रयोगवाद और नई कविता का भूत मुझ पर बुरी तरह सवार था। मुझे लगता था कि हिन्दी साहित्य और कविता नए ज़माने की वे आवाजें हैं जो हमारी अपनी सोच और आवाजों के बेहद

करीब हैं। मन में यह बात तो थी ही कि आचार्य शुक्ल की तरह आचार्य वाजपेयी भी अपने समय की सीमाओं से बँध गए हैं जबकि उनकी निगाह बेहद खुली हुई किन्तु तात्कालिकताओं के आर-पार जा रही थी।

यह भी सही है कि तब तक उन्होंने 'अंधा युग' या भारती पर स्वयं कुछ लिखा भी नहीं था। पर राय तो उनकी अपनी बन ही चुकी थी भारती और अज्ञेय जैसों को लेकर। 'अंधायुग' पर बाद में उनकी ये पंक्तियाँ भी पढ़ने को मिलीं—'धर्मवीर भारती इतिहास की कल्पना प्रायः नकारात्मक करते हैं। इस लिए उनके काव्य में वस्तु की अपेक्षा शैली का आकर्षण प्रमुख है, जिसका सुस्पष्ट उदाहरण 'अंधायुग' नामक उनकी नाट्य कृति है।'

मैंने तब लगभग किसी आज्ञाकारी छात्र की तरह कहा—आगे से इन बातों का ध्यान रखूँगा। इन वाक्यों से वे द्रवित तो हुए पर आगे का जो वाक्य कहा वह कम चौंकाने वाला नहीं था—'ठीक है। तब आपको मेरे अखाड़े में आना होगा। आप छायावादियों पर काम करिए।'

'छायावादियों पर तो आप ही के निर्देशन में सब हो चुका है। प्रेमलता बापूना पंत जी पर कर ही रही हैं। धनंजय वर्मा और मेहरा जी (रमेशचन्द्र) निराला पर कर चुके हैं। प्रसाद पर डॉ. प्रेमशंकर का काम सब जानते हैं।' मैंने उन्हें याद दिलाया।

'हाँ, तो उससे क्या। आपको तीनों का तुलनात्मक अध्ययन करना है।'

'लेकिन तीनों पर।' अपनी असमर्थता का बोधकर मैं डर-सा गया। 'हाँ क्यों नहीं? तीनों पर अभी काम हुआ कहाँ है?'- उन्होंने मेरे तर्कों को निरस्त करते हुए जवाब दिया।

मैंने आखिरी कोशिश की—'आपके तो साथ इन लोगों ने एक-एक कवि पर काम करके डिग्री पा ली है। मेरे लिए तीनों पर काम कर सकना क्या संभव हो पाएगा?''

इस बार उनके चेहरे पर गजब का उल्लास और मेरे प्रति गहरी आत्मीय ऊष्मा सी तैर गई— 'मैं हूँ न आपके साथ'।

इसके बाद तो कुछ कहने को अब बचा ही नहीं था। वो मेरे गाइड रहेंगे, यही मेरे लिए बहुत था।

उनके पास से उपकृत और धन्य होकर लौट तो रहा था पर यह सोचते हुए भी कि न जाने कैसे-कैसे और कितने लोगों को उन्होंने बगैर किसी शर्त या ना-नुकुर के पी-एच.डी. करा दी है, फिर मेरे ही साथ ऐसा क्यों? क्या वे सचमुच मुझे एक छात्र के रूप में पसंद नहीं करते या फिर क्या?

इसे मैं समझ पाया लगभग छह सात महीनों बाद घटे एक वाकये से। इसमें क्या शक कि उनकी ही इच्छा और पहल से मुझे यू.जी.सी. की मानविकी छात्रवृत्ति मिल सकी थी। वे चाहते तो यह मेरे प्रतिद्वन्द्वी उपेन्द्र पंत को मिल जाती, जो उनके काशी के दिनों के सहपाठी और मित्र मोहन वल्लभ पंत के पुत्र थे और पंत जी ने अपने बेटे का बिगड़ा भविष्य सुधारने के लिए ही वाजपेयी जी की शरण में भेज रखा था। वाजपेयी जी ने पंत की भी मेरे ही साथ

फर्स्ट क्लास फर्स्ट दे कर उनसे जैसे मुक्ति सी पा ली थी। इसलिए जब 'शोध-छात्रवृत्ति का प्रश्न सामने आया तो उन्होंने पंत को बुलाकर कहा—'स्कॉलरशिप तो विजय बहादुरसिंह को ही मिलेगी। आप चाहें तो अपने खर्चे पर रिसर्च करें।' इतना ही नहीं, उन्होंने पंत को अपने साथ रखने के बजाय डॉ. प्रेमशंकर के साथ शोध करने का निर्देश दिया। सुना तो यहाँ तक गया कि उन्होंने अत्यंत कठोर शब्दों में कहा जितनी दोस्ती निभानी थी निभा चुका। अब आप प्रेमशंकर जी के साथ काम करना चाहें तो कर सकते हैं। पंत तो कुछ दिनों बाद थक-हार कर लौट ही गया।

पाँच-छह महीने बाद जब मुझे छात्रवृत्ति की पहली खेप मिली तो छात्रावास के साथी मुझ पर ट्रीट देने के लिए जोर देने लगे। शहर पहुँच मैंने उन लोगों को उनकी इच्छा के अनुसार जलपान कराया तब उनमें से मेरे रूम-पार्टनर शुक्ला और उनके सहपाठी दीक्षित ने यह प्रस्ताव बतौर सलाह पेश किया कि क्यों न मैं नए जमाने के हिसाब से टेरीलिन का पैण्ट और शर्ट खरीद लूँ और पहनूँ। यू.जी.सी. के रिसर्च स्कॉलर के रूप में मेरा धोती-कुरता पहने घूमना उनकी निगाह में शायद मेरे स्टेटस के अनुरूप नहीं था। उमंग में आकर मैंने शर्ट-पैण्ट तत्काल खरीद भी लिया और दूसरे दिन वही पहन उनके पास जा पहुँचा। थोड़ी देर काम की बातचीत हुई। कुछ और काम उन्होंने बताया और कुछ कागज़ात फाइल करने को कहा। वह सब करके जब मैं छात्रावास लौटने से पूर्व उनको प्रणाम करने को झुका तो उनके शब्द मेरे कानों से टकराए—'लगता है आपको स्कॉलरशिप मिल गई।' यह न तो सवाल था, न किसी प्रकार की कोई जाँच। विपरीत इसके एक व्यंग्यात्मक टिप्पणी थी जो मेरे 'जी' कहकर हामी भर चुकने के बाद आगे के शब्दों में और भी सुस्पष्ट हुई— 'मैं तो आपको कलाकार और लेखक समझ रहा था। यह क्लर्कों का ड्रेस आप कहाँ से पहन आए।'

पैण्ट-शर्ट कलाकारों का नहीं बाबुओं और बड़े बाबुओं का ड्रेस है। उनका यह कहना पहले की कई बातों की तरह जब पूरा-पूरा पल्ले नहीं पड़ा तो मैंने उन्हें याद दिलाया—वो मेहरा जी (जो मेरे पहले उनके निजी सहायक हुआ करते थे और उनके सहपाठी पवन कुमार जी पिछले साल जब नया शूट पहन आपके पास आए थे, आपने उन दोनों को देखते ही कहा था— 'एम्बेसेडर लगते हैं आप दोनों' 'हाँ! इसलिए कि वे लेखक या कलाकार नहीं हैं। आप तो हैं। तब आपको ऐसी ड्रेस क्यों पहननी चाहिए?'

उनके निवास से छात्रावास लौटते हुए रास्ते भर मैं यही सोचता रहा कि आचार्य जी क्या हर बात को इतनी बारीकी से सोचते और हर व्यक्ति को इतनी बारीकी से देखते रहते हैं। यह भी कि व्यक्ति की असली पहचान तो उसकी बुनियादी नैसर्गिक बनावट में है। जीवन का विकास यदि इसी के अनुरूप किया जा सके तो व्यक्ति-विशेष अपने आत्म का समुचित विकास कर पाता है। अन्यथा तो वह दूसरों की छाया-प्रतिलिपि बनकर जीता और अपने रास्ते

से भटक ही जाता है। एक आलोचक के रूप में भी उनकी यह सूक्ष्मदृष्टि निरन्तर सक्रिय बनी रही। प्रसाद और निराला जैसे कवि-मित्रों को उनके स्वाभाविक पथ पर चलते देखते हुए भी दोनों की विलक्षणता उनकी निगाह में रही, लिखा कि 'वैयक्तिक अनुभूति की प्रमुखता और प्रबलता रखने वाले कवि प्रसाद ने एक महाकाव्य लिख डाला' जबकि 'निराला जैसे निःसंग, तटस्थ और वस्तुमुखी सौन्दर्य-द्रष्टा कवि ने कोई महाकाव्य न लिखकर लघु-दीर्घ प्रगीतों में ही अपनी सम्पूर्ण काव्य-रचना की है।' यही क्यों, छायावाद के तीसरे बड़े कवि पंत के अस्वाभाविक काव्य-विकास पर एक आलोचक के रूप में सबसे पहली कठोर ऐतिहासिक टिप्पणी भी उन्होंने ही की। आधुनिक साहित्य की भूमिका (1950) में उन्होंने गाँधीवादी और प्रगतिवादी कवि पंत को लक्ष्य कर लिखा 'सन् 32 या उसके आस-पास से पंत जी कवि के बदले कलाकार अधिक हो गए और काव्य-रचना के स्थान पर कुछ ऐसी कृतियाँ करने लगे, जो ललित की अपेक्षा उपयोगी अधिक थीं; अथवा जो सीधे ही क्यों न कहें काव्य की अपेक्षा काव्याभास अधिक थीं।' वाजपेयी जी जैसे युगान्तरकारी आलोचक ने जो बात सन् पचास में आलोचना की मर्यादित भाषा में रखी थी उसे ही किंचित अमर्यादित ढंग से लगभग तीन दशक बाद नामवर सिंह ने यह कह विवाद खड़ा कर दिया कि पंत जी ने अपने परवर्ती काव्य में कूड़ा ही अधिक लिखा। सच तो दोनों ही कह रहे थे पर कहने-कहने में जमीन और आसमान का अंतर था। एक आलोचक की भाषा में कह रहा था जबकि दूसरा साहित्येत्तर आम बोलचाल वाले मुहावरे में। और मुहावरा भी कैसा, जो औसत शालीनता और समझदारी का भी अतिक्रमण करता हो।

किसी भी लेखक या कवि को लेकर ऐसी अगंभीर और गैरजिम्मेदार टिप्पणी वे शायद ही कभी करते हों। एक ही प्रसंग याद आता है जब वे बेहद अच्छे मूड में थे और मैंने उनसे हिम्मत करके पूछ लिया था– 'मुक्तिबोध और निराला के काव्य-व्यक्तित्व में आपकी निगाह में क्या फर्क है?' तब उन्होंने लगभग मुस्कराते हुए निराला के काव्य-व्यक्तित्व को विराट और उस तुलना में मुक्तिबोध के व्यक्तित्व को इकहरा बताते हुए कहा था– 'मुक्तिबोध तो निराला की जेब की चवन्नी हैं।' उनके इस बेहद हल्के और चलताऊ वाक्य पर सोचता हुआ मैं विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के छात्रावास के अपने कमरे में वापस आया था। उनका यह वाक्य कई-कई दिनों तक मेरे मन में असहज और अनपचे वाक्य की तरह घूमता रहा। यह भी कि आचार्य वाजपेयी ने यह बात किस हल्के मूड में कह दी। लेकिन छह महीने के भीतर ही जब वे नए कवियों पर धर्मयुग के लिए अपनी लेखमाला डिक्टेट कराने लगे, मुक्तिबोध पर उन्होंने लिखवाया–''निराला की अपेक्षा मुक्तिबोध ने अधिक उग्र रूप से परिस्थिति और परिवेश का अनुभव किया।... मुक्तिबोध में पीड़ा का तत्त्व इतना अधिक रहा है कि वे यथार्थवाद की एक नई सरणि के ही स्रष्टा बन गए हैं...।' यह भी कि ''मुक्तिबोध निराला और राहुल की जाति के लेखक और कवि हैं... विद्रोह और नएपन में उनकी ख्याति है और रहेगी।''

एक और बात जो उन्होंने तब मुक्तिबोध के काव्य-दर्शन को लेकर कही वह आज के लेखकों के बीच भी विवादपूर्ण है और उनके असमंजसों को सूचित करती है। उन्होंने कहा था कि मुक्तिबोध को 'संतुलित मार्क्सवादी भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मार्क्सवादियों का तटस्थ दर्शन और विवेचन उनके काव्य की विशेषता नहीं है।' तुलनात्मक तौर पर याद करें तो रामविलास शर्मा ने उन्हें लगभग अस्तित्ववादी ही कह डाला है जबकि आचार्य वाजपेयी ने ऐसा नहीं ही कहा। पर नए कवियों में कुछेक जरूर उन्हें अस्तित्ववाद के भी आस-पास पाते रहे हैं।

एक आलेचक के रूप में वे अपनी सामर्थ्य और मर्यादा से सर्वथा परिचित थे किन्तु अपनी सीमाएँ भी जानते ही थे। ठीक वैसे ही जैसे कोई कवि या लेखक अपने अनुभव-क्षेत्र में निवास किया करता है, वे अपनी सहृदयता-क्षेत्र का अतिक्रमण शायद ही कभी करते हों। मसलन हिन्दी के आदिकालीन या वीरगाथा काव्य या फिर रीतिवादी काव्य पर उन्होंने कभी कलम नहीं उठाई। ऐसे मौके सामने आए भी तो अपनी सीमा समझते हुए इन काव्य युगों और प्रवृत्तियों पर उन्होंने शायद ही कभी कुछ कहा हो। यह उनका अपना मर्यादा-बोध भी था और सीमा-बोध भी। एक प्रसंग जरूर मेरी आँखों के सामने तब घटा जब वे रीतिकालीन कवियों पर केन्द्रित एक राष्ट्रीय गोष्ठी में कुलपति रहते हुए आए और बीच की कुर्सियों में से किसी एक पर चुपचाप बैठ गये थे। मंच पर कई जाने-माने रीतिकाल-विशेषज्ञ अपनी-अपनी बातें कह रहे थे। सभा के अध्यक्षीय वक्तव्य से पहले मंच पर आकर उनसे भी कुछ कहने का पहले तो निवेदन फिर पुरजोर आग्रह किया जाने लगा। पर वे अपना संकोच और अपनी झिझक प्रदर्शित करते रहे। ठंड के दिनों की वह एक गहराती शाम थी। मंच से जब यह वाक्य उन तक पहुँचा कि ''हमलोग एक स्वच्छन्दतावादी आलोचक आचार्य को भी सुनना चाहते हैं कि रीतिकालीन काव्य पर उसकी अपनी राय क्या है,'' वे सगौरव उठकर मंच पर गए जिस पर रीतिकाल के निर्विवाद आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, रीतिकाव्य के ही डॉ. भगीरथ मिश्र और दो एक अन्य भी विराजमान थे। वे सीधे माइक पर ही जा पहुँचे और कहा कि भक्तिकाल और रीतिकाल में एक जो बहुत बड़ा फर्क है वह यह कि भक्तिकाल की तुलना में रीतिकाल अधिक सहज मानव-भूमि पर है। दूसरे वह एकदम से सेकुलर काव्य है। किसी विचार-दर्शन या धर्म की छाप उस पर नहीं पड़ पाई है। इस रूप में उसकी भूमिका शुद्ध मानवीय है। भक्तिकाल की कविता पर इस तुलना में हिन्दू धर्म और दर्शन की गहरी छाप है। यह सब कह वे तत्काल पलटे और उनका तेवर किंचित तीखा हो उठा-रीतिकाव्य एक श्रेष्ठ कोटि का काव्य है किन्तु उसमें वे महानताएँ नहीं हैं जो भक्तिकाव्य में हैं। भक्तिकाव्य की भूमि अधिक सुविस्तृत और प्रशस्त है। उसमें मानव-अनुभूतियों की गहराई एवं जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाले विचारों का प्राबल्य है। इस रूप में भक्तिकाव्य एक महान काव्य है।

इन विचारों को प्रकट करते हुए उन्होंने अंग्रेजी के दो पदों - 'गुड' और 'ग्रेट' का इस्तेमाल भी किया। निश्चिय ही इसमें उनके पश्चिमी सौन्दर्य-चिंतन का योगदान था जिसका गम्भीर अध्ययन वे अपने शुरुआती अध्यापकीय जीवन-काल में कर चुके थे। प्रसाद पर अपनी

पहली किताब लिखते हुए भी उनका यह ज्ञान सहयोग करता चल रहा था। यह भी कहा जा सकता है पश्चिमी सौन्दर्य-चिंतन और साहित्य-चिंतन में उनकी पैठ बेहद गहरी थी जिसे उन्होंने अपनी सूक्ष्मग्राही बुद्धि से आत्मसात् किया था और अपनी प्रखर-प्रतिभा के बल पर उसका उपयोग और प्रयोग करते चल रहे थे। किन्तु इस सावधानी के साथ कि वे एक हिन्दी आलोचक हैं और हिन्दी भाषा और उसकी परंपराओं के प्रति उनकी गहरी और भारी जिम्मेदारी है। इस जिम्मेदारी को वे उतनी ही ईमानदारी से निभा सकें इसके लिए भारतीय काव्य-चिंतन में भी वैसी ही पैठ उनके लिए जरूरी थी। शुरुआती दिनों में संभवतः यह उतनी गहरी न रही हो पर क्रमशः प्रौढ़ होते जाते दिनों में संस्कृत आलोचना-शास्त्र के पण्डितों से उनके मैत्री-संबंधों को देखते हुए यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि इसका रहस्य क्या है। बाद के दिनों में तो उन्होंने संस्कृत साहित्य और काव्य-शास्त्र के भरोसेमंद जानकार डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी को अन्यों से अधिक वेतन-वृद्धि देकर सागर के हिन्दी विभाग में एक सहयोगी के रूप में बुला लिया था। डॉ. त्रिपाठी के प्रति उनमें इतना आकर्षण था कि जब वे कुलपति होकर उज्जैन के विक्रम विश्वविद्यालय गए तब थोड़े ही दिनों में सागर के हिन्दी विभाग के अपने मुँह लगे शिष्यों और सहयोगियों को दरकिनार करते हुए कौन कान्यकुब्ज है, कौन सरयूपारी जैसे संकीर्ण दायरों को लाँघते हुए नई-नई शुरु हुई हिन्दी अध्ययन शाला अर्थात हिन्दी विभाग के सुचारू संचालन के लिए डॉ. त्रिपाठी को ही विभागाध्यक्ष के रूप में चुन लिया था। डॉ. त्रिपाठी यों तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के छात्र थे फिर भी वाजपेयी जी ने उनके पक्ष में निर्णय लिया।

इस संदर्भ में जो एक मजेदार किस्सा याद आता है वह यह कि सागर के दिनों में तो उनके द्वारा डिक्टेशन के मार्फत लिखवाये जा रहे आलेखों का नोट मैं ही लिया करता था। उज्जैन आने पर उनको श्री भुटाने जैसे आशुलिपिक मिल गये थे पर निजी काम काज के लिए तो मैं फिर भी उनकी सेवा में तत्पर रहता ही था।

कुलपति पद के चतुर्दिक सक्रिय विरोधी राजनीति से थोड़ा-बहुत निपटकर जब वे फिर एक आलोचक के रूप में सक्रिय होने की कोशिश करने लगे तो सबसे पहले उनका ध्यान नयी कविता के कवियों की तरफ गया जिनकी अनुकरणगामी प्रवृत्तियों के विरुद्ध आलोचना के अपने सम्पादकीय-काल में वे काफी कुछ लिख चुके थे। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, गिरजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध, नरेश मेहता से लेकर कुँवरनारायण, केदारनाथ सिंह और दुष्यन्त कुमार तक उनकी जो लेखमाला थी उसका डिक्टेशन उन्होंने हिन्दी विभाग के डॉ. शिवसहाय पाठक को देना शुरू किया था। बाद में रस-सिद्धान्त को लेकर वे अपना डिक्टेशन डॉ. त्रिपाठी जी को देने लगे। मुझे लगा कि जब मैं डिक्टेशन ले सकता हूँ और उनका शोध-छात्र और निजी सहायक भी, तब वे इन वरिष्ठ अध्यापकों से ऐसा सामान्य-सा काम क्यों लेने लगे हैं। मुँह लगा तो मैं उनका तब तक हो ही गया था। एक दिन कह ही डाला—आपका डिक्टेशन मैं लेता ही रहा हूँ तब आप

यह काम डॉ. त्रिपाठी जी से क्यों ले रहे हैं। मेरी बात सुनकर कुछ पल तो वे खामोश रहे पर इतनी ही देर में मेरे कानों तक उनका यह वाक्य भी आ पहुँचा—'तो क्या संस्कृत काव्यशास्त्र की जो कारिकाएँ मैं भूलूँगा, वो आप मुझे बता देंगे?' इस वाक्य को सुनते ही मैं सकपका गया और थोड़े ही क्षणों में उनका दूसरा वाक्य कानों में पड़ा—'त्रिपाठी जी को भारतीय काव्यशास्त्र का सब कंठस्थ है। मुझे तो नहीं है। इसलिए जहाँ भूलता हूँ वे मेरी मदद करते हैं। यह काम आप तो नहीं कर सकते न?'

उनके इस उत्तर में प्रताड़ना तो एकदम ही नहीं थी पर शिक्षा और प्रशिक्षा तो थी ही। उनके प्रतिभा-मण्डित और विद्वता से परिपूर्ण व्यक्तित्व के ये वे परिसर थे जहाँ उनकी मेधा निर्द्वन्द्व विचरण किया करती थी। साहित्य का इतिहास गवाह है कि अपने अभिभावक तुल्य शिक्षक अयोध्यासिंह 'हरिऔध' और कवि मैथिलीशरण गुप्त जैसे खड़ी बोली के दिग्गज कवियों के वर्चस्व के दिनों में एक युवा आलोचक के रूप में बेहद दुस्साहसपूर्ण ढंग से उन्होंने आधुनिक हिन्दी कविता का वृहत्त्रयी—प्रसाद, निराला और पंत—का निर्माण किया और उसे युगान्तकारी कहते हुए अपनी बेखौफ स्थापना दी यह साहित्य की एक अविस्मरणीय घटना है। किन्तु एक बार जब कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिए जाने वाले व्याख्यान के संदर्भ में उनसे प्रसाद और निराला पर एक साथ बोलने को कहा गया तो उनके समक्ष लगभग संकट सा ही खड़ा हो गया। किन्तु इस चुनौती को उन्होंने जिस तरह निभाया, उसे वह ही कर सकते थे। यह तो कहा ही कि प्रसाद और निराला हिन्दी काव्य की दो सर्वोत्तम प्रतिभाएँ है, साथ ही यह भी कहा कि प्रसाद का महाकाव्य प्रगीतात्मक शैली का एक अप्रतिम उदाहरण है और निराला के प्रगीत महाकाव्य की स्वच्छता और उदात्तता से सम्पन्न हैं। इसे भी कह ही डाला कि काव्यगत तटस्थता को देखते हुए यह उम्मीद निराला से बँधती थी कि वे महाकाव्य की ओर जायें किन्तु ऐसा नहीं हो सका जबकि वैयक्तिक अनुभूति की प्रमुखता और प्रबलता रखने वाले कवि प्रसाद ने एक महाकाव्य लिख डाला निचोड़ में कहा यही कि दोनों अपनी समरूपता में नहीं अपनी विलक्षण भिन्नताओं में अनुपम और अद्वितीय हैं। अतः तुलना का अवकाश ही कहाँ।

ये उनके महान समीक्षक व्यक्तित्व के वे छोर थे जिन्हें नज़रन्दाज कर पाना कठिन होगा लेकिन उनका मनुष्य इससे भी कई गुना विशाल और उदार था। वे अपने साथ काम करने वाले उन युवा साहित्यिकों को भी स्नेह देने में संकोच नहीं करते थे जिनकी विचारधारा मार्क्सवादी या फिर कुछ अन्य होती थी। डॉ. शिवकुमार मिश्र और डॉ. चन्द्रभूषण तिवारी भी उनको उतने ही प्रिय थे जितने गंगाधर झा या डॉ. प्रेमशंकर।

मार्क्स की विचारधारा को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी, 'वाद' के रूप में साहित्य में उसकी भूमिका उनको उसी तरह अहितकर लगा करती थी जैसी कि अस्तित्ववाद की। तब भी रामविलास शर्मा जैसे मार्क्सवादियों को लेकर उनमें गहरा स्नेह भाव था। यह यहाँ तक कि विक्रम विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष के रूप में वे डॉ. शर्मा को प्रत्येक

कीमत पर लाना चाहते थे। उन्होंने ही तो नामवर जी को सागर में व्याख्याता के रूप में लिया था और नागार्जुन के विवादास्पद उपन्यास 'उग्रतारा' को स्नातक स्तर के पाठ्यक्रम में लगा दिया था। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद जैसी नई काव्य-प्रवृत्तियों से सागर के स्नातकोत्तर हिन्दी के छात्रों को परिचित कराने के लिए पाठ्यक्रम तय कराया था। आज ज्यादातर यह प्रचारित किया जाता है कि वे एक प्रतिगामी आलोचक और साहित्य चिंतक थे सच्चाई जबकि यह है कि वे न तो प्रभाववादी आलोचक थे न ही अखाड़िया। विपरीत इसके साहित्य के गहरे जातीय मूल्यों के वे कठोर पक्षधर थे। प्राचीन आचार्यों जैसा आत्माभिमान और आत्मगौरव तो उनमें कूट-कूट कर भरा था साथ ही अन्यों के प्रति उनकी सजगता कुछ-कुछ इसी तरह की थी। ऐसे भी मौके आए जब प्रदेश के शिक्षा मंत्री ने उन्हें एक मातहत अधिकारी के रूप में पाना चाहा और वे उसके बुलावे पर भी नहीं गए पर उत्तर में यह सन्देश जरूर भिजवा दिया कि वे अगर कुलपति निवास पर आकर चाय पीना चाहें तो स्वागत है।

यों अपनी व्यक्तिगत अभिरुचियों में उनकी पसंद बेहद परिष्कृत अभिजातवादी की थी। महँगे खादी सिल्क का कुरता-धोती या फिर बंगाल की शांतिपुरी धोती, कोल्हापुरी जेजे चप्पलें, पशमीने का बंद गले का ऊनी कोट या जाकेट और बनारसी जर्दा। निराला जैसे मित्रों के सम्पर्क में आकर जो खैनी वे खाया करते थे वह भी खूबसूरत चाँदी की डिबिया में जिसे घरेलू सेवक उदित बनाकर उनकी जेब में रख दिया करता। एक बार कुलपति होने पर जब नई फियेट कार खरीदते वक्त रंग का सवाल सामने आया तो उन्होंने काले रंग की वकालत करने वाले एजेन्ट से कहा—'अरे भाई! आप मुझे जानते नहीं। मैं रोमान्टिक क्रिटिक हूँ। आप मुझे ऑफ ह्वाइट रंग की कॉर सप्लाई करिए।' यह केवल रंग का अकेला सवाल नहीं था उस उदात्तता का भी था जिसे वे धारण किए हुए थे।

रुचि तथा भाषा तक यह अभिजात अपना वातावरण रचा ही करता। उन्होंने इसे कैसे विकसित किया होगा, पिता से या किसी आदरणीय मित्र से तो मेरे लिए अनुमान लगाना सहज है कि अपने प्रिय महाकवि जयशंकर प्रसाद से जिनके वे अत्यन्त स्नेहपात्र थे। अन्यथा तो स्वदेशी आन्दोलन के शुरूआती दिनों में वे गाँधी टोपी भी लगाते थे और खादी के वस्त्रों का इस्तेमाल भी किया करते थे। गाँधी के महान व्यक्तित्व के प्रति अपने अनन्य आकर्षणों के चलते, अपने इस प्रत्यक्ष अभिजात रुचि-बोध के बावजूद उनमें स्वदेशी प्रेरणाओं, विचार-समूहों और सूक्ष्म संवेदनाओं को लेकर इतना जबरदस्त आवेग और बौद्धिक समर्पण था कि उन्होंने इस मुद्दे पर कभी कोई समझौता किया ही नहीं। गाँधी के साथ जब-जब मार्क्स के विचारों की जनोन्मुखता का सवाल सामने आया, सामाजिक विकास की द्वन्द्वमूलक प्रक्रिया और ऐतिहासिक भौतिकवाद के स्थान पर वे भारतीय विश्व-दृष्टि का धारावाहिकता का समर्थन करते रहे। 'नया साहित्य नये प्रश्न' की भूमिका 'निकष' में उन्होंने लिखा—'मेरे लिए समाज और साहित्य की प्रगति द्वन्द्वात्मक नहीं धारावाहिक है। अतएव मैं प्रसाद और प्रेमचंद, निराला और पंत की

निष्ठामयी रागिनी और जनवादी तेवर से किसी प्रकार नीचे उतरने को तैयार न था।' 9 जनवरी, 1955' एक साक्षात्कार लेते हुए मैंने जब उनसे पूछा कि कुछ लोग आपको छायावादी, स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी प्रगतिशील तो कुछ लोग रसवादी तथा अध्यात्मवादी कहते हैं किन्तु आप इनमें से स्वयं को क्या मानते हैं तो उन्होंने बेहद साफ-सुथरा जवाब देते हुए कहा था– 'यदि इन विशेषणों के द्वारा सीमा का विस्तार हो रहा है, तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है। यदि विशेषणों को निकालकर केवल साहित्य समीक्षक कहा जाए तो मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता होगी।'

इस साक्षात्कार को लेने से पहले मुझे डराया गया था कि वे प्रश्नों पर नाराज हो जाएँगे और तुम्हारा बुरा हो सकता है किन्तु मेरा अनुभव इससे भिन्न रहा। न कभी वे नाराज दिखे न कभी मेरा बुरा हुआ। उनको लेकर विभाग के सहयोगियों जिनमें अधिकतर उनके छात्र ही थे, परस्पर इतनी राजनीति और ईर्ष्या चलती थी कि एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए सब उनके पास अपना नकली चेहरा ही लेकर जाते और अपनी पोजीशन दूसरे से बेहतर करने और बनाने की कोशिश में लगे रहते किन्तु उनकी निगाह हमेशा इस राजनीति से परे और ऊपर रहा करती। अव्वल तो उनके पास इतना समय ही नहीं बचता था कि आपस में चौबीसों घण्टे चालें चलते कुनबे में खुद एक योद्धा की तरह कूदें। इतनी यात्राएँ, इतने लोगों की दिन-भर आवाजाही, मान्य आचार्यगणों का शाम का उठना-बैठना, शोध-छात्रों की भारी भीड़ उसके बाद खुद स्वास्थ्य-संबंधी परेशानियाँ। तब भी मैंने न तो उन्हें कभी किसी विकृत मनोदशा में देखा, न उदास या पस्त। हाँ एक बार जब वे बनारस के बड़े प्रसिद्ध राजवैद्य को दिखाकर लौटे उनके दोनों पाँव सूजे हुए थे जिससे पता चल रहा था कि यकृत की दशा गड़बड़ है। किन्तु जल्दी ही वे इस मनोदशा से स्वयं को उबार भी सके थे। एक झटका-सा उन्हें तब जरूर महसूस हुआ था जब सागर विश्वविद्यालय के कुलपति-पद की जगह रिक्त हुई और राजनीति-विज्ञान के आचार्य डॉ. एम.पी. (महादेव प्रसाद) शर्मा मनोनीत कर दिए गए। उन्हें उम्मीद थी कि उनके पूर्वमित्र और अब प्रदेश के मुख्यमंत्री डॉ. द्वारिका प्रसाद मिश्र यह पद उन्हें दिलवा देंगे। डॉ. मिश्र खुद सागर के कुलपति रह चुके थे और यहाँ की राई-रत्ती से परिचित थे। जानते थे कि वाजपेयी जी का स्वभाव अत्यन्त कोमल और उदार है। दण्डनीयों को भी क्षमा कर देना उनका सहज स्वभाव है तब विश्वविद्यालय सुधरेगा कैसे। इसलिए कुछ ही दिनों में उन्हें विक्रम विश्वविद्यालय का कुलपति मनोनीत कर उन्होंने अपना मित्र-ऋण तो चुकाया ही, उज्जैन में जरूरत से ज्यादा वर्चस्व बनाए हुए माधव महाविद्यालय के चर्चित प्राचार्य कवि शिवमंगल सिंह 'सुमन' के कद को सामान्य करने की भी चाल चली। जानने वाले जानते हैं डॉ. सुमन इससे सामान्य तो हुए नहीं उल्टे अधिक विपरीत दिशा में सक्रिय हो उठे और घात-प्रतिघात की स्थिति उत्पन्न होती चली गई। मैं चूँकि निजी सहायक के रूप में अक्सर उनके आस-पास रहा करता मेरे सामने जो प्रसंग घटा उसे देख तो मैं खुद भी सहम गया।

शाम के चार और पाँच के बीच का वक्त रहा होगा जब मैं छात्रावास से पहुँचा था और वे अपने कुलपति वाले बँगले की उन्हीं कुर्सियों पर बैठे डॉ. सुमन से किन्हीं मुद्दों पर बातें कर रहे थे। जब-तक यह बातचीत चल रही थी मैं पोर्च में ही घरेलू सेवकों और ड्राइवरों के साथ बतियाता रहा। थोड़ी ही देर में सुमन जी विदा लेने के लिए खड़े हुए तो बैठे हुए वाजपेयी जी के चरणों पर प्रणाम करने को झुके किन्तु वाजपेयी जी आर्शीवाद देने के बजाय बैठे-बैठे ही जो कह रहे थे वह गुस्से से भरा हुआ और बेहद कठोर था— 'सुमन जी। यह दोनों नहीं चलेगा। या तो आप प्रणाम कर लीजिए या फिर खुलकर चालें ही चल लीजिए। एक साथ दोनों संबंध निभाए नहीं जा सकते। आप पीछे तो वार करते हैं फिर सामने चरण छूने से क्या फायदा?'

मैंने लक्ष्य किया, सुमन जी बचाव की मुद्रा में आ चुके थे और सफाई देने की झूठी कोशिशें करने लगे थे जो वाजपेयी जी को आश्वस्त नहीं ही कर पा रही थीं। निश्चय ही उस क्षण वाजपेयी जी का क्षोभ अपनी प्रचण्डता में था जिसमें सुमन जी की घातकारी राजनीति को लेकर उनका दुख-दग्ध अनुभव भी शामिल था। सुमन जी की सफाई में न तो पश्चाताप का भाव था न आत्मपीटकर और ग्लानि का। मैंने यह भी लक्ष्य किया कि सुमन जी कुछ पलों के लिए तो असंतुलित से हो उठे थे और बैठक की सीढ़ियाँ उतरते हुए तो उनकी मुद्रा—बड़े बेआबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले वाली थी।

वाजपेयी जी का यह रूप मैंने पहले तो कभी देखा नहीं था, न ही अनुमान लगा पाया था कि वे कभी इस रूप में भी आ सकते हैं। पर घटा तो सब इन्हीं आँखों के सामने था। तब अविश्वास भी कैसे किया जा सकता था। लेकिन एकबार जब उज्जैन के एक स्थानीय पुस्तक-व्यवसायी के साथ मेरी कहा सुनी हो गई और जोश में आकर मैंने उसे धमकियाँ दे डालीं तो उसने तत्काल उन्हें फोन करके शिकायत कर दी कि आपके शोध-छात्र विजय बहादुर सिंह ने मेरे हाथ-पाँव तोड़ देने की धमकी दी है। दूसरे दिन अपने रोज के तयशुदा समय पर पहुँचा। मैंने जब उनके चरण छुए और प्रणाम करके खड़ा हुआ तो उनका अप्रत्याशित भारी वाक्य सुनाई पड़ा—

'आपका वजन कितना है?'

यह कहते हुए उनका भाव अत्यन्त गम्भीर और ईषत क्षोभ वाला था। मैं समझ गया कि बात पहुँचा दी गई है। इसलिए धीरे से दो टूक और सीधा जवाब दिया— 'चौवन-पचपन या छप्पन-सत्तावन किलो होगा पंडित जी!' सागर से लेकर उज्जैन तक हम सब उन्हें इसी नाम से संबोधित किया करते थे। तत्काल उनका दूसरा वाक्य तीर की तरह मेरे सामने आ गया— 'हाँ! तब तो आप किसी का भी हाथ तोड़ सकते हैं।'

मैं सफाई दे ही रहा था कि तब तक पण्डित जी के छोटे बेटे मन्नू (सुनृत कुमार) जो पिछली शाम मेरे साथ थे भीतर से आकर मेरा पक्ष लेने लगे। पण्डित जी ने उन्हें डपट कर घर के भीतर भेज दिया। मैंने तब विस्तार से उन्हें पूरी बात सच-सच बता दी। मेरी सफाई सुन

वे आश्वस्त हुए और मुझे बैठ जाने को कहा। बैठ जाने के कुछ क्षण बाद मुझे समझाना शुरू किया– 'माना कि आप अभी नौजवान हैं और कोई अनुचित बात बर्दाश्त नहीं करते पर जमाना अब बदल चुका है। इस बदले हुए वातावरण में हमको भी बदलना चाहिए।' मैं उन्हें सुनता रहा और वे आगे भी रूक-रूक कर बोलते और सिखाते रहे–'मैंने भी अपनी जवानी में, निराला जी जिनके यहाँ काम करते थे, उन दुलारे लाल भार्गव को, उनके अनुचित व्यवहार पर मारा था। पर तब का समय दूसरा था। अब समय काफी बदल चुका है। इसलिए सम्हल कर व्यवहार करना चाहिए।''

यह सब कहते हुए उनके स्वरों में जितना समझाइश थी, उतना ही स्नेह और अपनत्व भी। नहीं जानता कि अपना यह मनोभाव वे किसी अन्य से भी शेयर करते थे कि नहीं किन्तु मैंने तो यह बार-बार अनुभव किया कि बहुत बार वे ऐसी बातें करने लगते थे जिनका कोई पूर्व सन्दर्भ नहीं हुआ करता था किन्तु ऐसा लगता है कि वे बातें उनके मन में महीनों पहले से चला करती थीं।

एक शाम जब वे धूप ले रहे थे मैं कुर्सी उठा उनके सामने जा बैठा। बगैर किसी पूर्व भूमिका के वे कहने लगे–'जानते हैं आप आदर्श साहित्यिक आलोचना क्या हुआ करती है। मेरी दृष्टि में वह आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित भ्रमरगीत सार की है। अब मैं वैसी ही आलोचना लिखना चाहता हूँ।' मैं कुछ कहता इससे पहले ही उन्होंने फिर एक नया वाक्य कहा– 'अब आपके नामवर सिंह हैं, लिखते-लिखते ऐंठ जाते हैं। वस्तुपरकता गायब हो जाती है।' मैंने हिम्मत करके पूछा–'तो क्या आलोचक को अपनी बात कहने का हक नहीं है' तो उन्होंने कहा–'आलोचक का सबसे बड़ा दायित्व सर्जक की संगत करना है। शुक्ल जी ने भ्रमरगीत सार की भूमिका में यही किया है।'

यह तो निर्विवाद है कि आचार्य शुक्ल के बाद के वे सबसे बड़े साहित्यालोचक थे। खुद हिन्दी आलोचना पर लिखी गई किताबें इसकी गवाही चिरकाल तक देती ही रहेंगी किन्तु जब कभी यह सवाल उठेगा कि वे साहित्यालोचक बड़े थे या फिर साहित्य-अध्यापक और आचार्य, तो बेहिचक कहना पड़ेगा कि उनका आचार्यत्व महाकरुणा का मूर्तिमान रूप था। अपने पूरे अध्यापकीय जीवन में उन्होंने शायद ही कभी किसी परीक्षार्थी को थर्ड डिवीजन दिया हो। शायद ही कभी किसी के मन को छोटा किया हो या फिर किसी की कसमसाती अँखुवाती संभावना को दबाया या कुचला हो। कवि पंत की ही तरह वे मानते थे–'दीन, दुर्बल है रे संसार। इसी से दया, क्षमा औ' प्यार।' प्रतिभाओं को पहचान कर उन्हें अपना स्नेहिल प्रोत्साहन देना उनका सहज स्वभाव था। उनके छात्रों में चाहे आलोचक बच्चन सिंह हों या कवि नरेश मेहता या फिर डॉ. प्रेमशंकर, ख्यात संस्मरणकार डॉ. कान्तिकुमार या फिर डॉ. शिव कुमार मिश्र, वाम के संपादक डॉ. चन्द्रभूषण तिवारी, धनंजय वर्मा या स्वयं मैं, हम सब अगर अपनी छोटी-मोटी पहचान बना सके तो कारण उनके व्यक्तित्व की उदारता ही थी।

निजी तौर पर मैं जानता हूँ कि उनके आदर्श पुरुषों में यदि एक तरफ भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र बाबू थे तो दूसरी तरफ समाजवाद के जनक आचार्य नरेन्द्र देव। किन्तु इन सबसे भी ऊपर थे देवपुरुष गाँधी। अपना वैचारिक संस्कार वे यहीं से ग्रहण किया करते थे। साहित्यिक संस्कारों के लिए तो उनके समक्ष प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, निराला और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे ही। भविष्य में जब कभी उनका तटस्थ और संतुलित अध्ययन होगा अध्येता को इस निष्कर्ष तक पहुँचना ही पड़ेगा कि वे एक सच्चे जनोन्मुखी आचार्य और प्रखर साहित्यिक चिंतक थे।

एम-4, निराला नगर
भदभदा रोड़, भोपाल (म.प्र.)-462003
मो. 9425030392

¨ *विजय बहादुर सिंह हमारे समय के महत्त्वपूर्ण आलोचक, कवि, सम्पादक एवं गद्यकार हैं। वे ख्यात आलोचक पं. नन्ददुलारे वाजपयी जी के प्रिय शिष्य एवं उनके निज सचिव रह चुके हैं। श्री सिंह के नाम कई आलोचनात्मक पुस्तकें एवं कविता-संग्रह हैं। वे नन्ददुलारे वाजपेयी की जीवनी 'आलोचक का स्वदेश' लिखकर कीर्ति बटोर चुके हैं। यहाँ सागर विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष रहे उन्हीं आचार्य नन्ददुलारे वाजपयी को लेकर उनकी स्मृतियाँ हम पाठक के लिए प्रस्तुत है।*

बेला महका रे महका...

—आशुतोष

एक थीं बेला फुआ, एक रहे हम और था हमारा खूब बड्ड़ा सा गाँव।

बेला फुआ की एक आदत बहुत खास थी। उन्हें जो भी चीज अच्छी लगती तो उसे वे राजेश खन्ना जैसा बतातीं। किसी की कोई बात पसंद आ जाए तो दाद देते हुए कहती ''बाह! का बात करते हो, एकदम राजेश खन्ना जइसन''। उनके पास अच्छे और खुबसूरत चीजों के लिए सिर्फ दो फुटकर शब्द थे 'राजेश खन्ना'।

उनके इसी फेर में मैं बहुत दिन तक अपने राजेश मामा को राजेश खन्ना मानता रहा। क्योंकि मुझे मेरे राजेश मामा बहुत अच्छे लगते थे।

बेला फुआ का शरीर पहले बढ़ा। वो भी बढ़ी मगर थोड़ा धीरे-धीरे। बड़ी-बड़ी आँखों के साथ खुबसूरत होने के लिए शरीर में जितने नदी, लहर, घाटी, कटाव, पहाड़, आग, हवा धरती और आसमान की दरकार होती है, वह सब उन्हें पर्याप्त मात्रा में मिले थे।

एक बार सुजा साहू की लड़की ने उन्हें अपना नया सलवार दिखाते हुए पूछा ''बताओ न बेला फुआ, कैसा है?'' बेला फुआ उसी लहजे में बोल गयीं ''अरे एकदम राजेश खन्ना जैसा रे''। सुजा साहू की लड़की चहकी ''सच में बेला फुआ'', बेला फुआ ने आगे जोड़ा ''हाँ रे पर'', ''पर क्या बेला फुआ।'' बेला फुआ ने होठों में हँसते हुए कहा ''यही कि ये राजेश खन्ना तेरे टांगो के बीच क्या कर रहा है।'' बस यहीं पर बात बिगड़ गयी। सुजा साहू की लड़की बुरा मान गयी। उसने अपनी माँ से कहा कि ''बेला फुआ ने मेरी सलवार को लेकर गंदी बात कही है।'' फिर क्या था, सुजा साहू की पत्नी ने बेला फुआ के गंदेपन को गंदी-गंदी गालियों से धो डाला। बात आगे नही बढ़ी, और एक सम्भावित महाभारत का ग्रामीण संस्करण आते-आते रह गया। पर बेला फुआ को न बाज आना था और न आयीं।

बेला फुआ अपने चचेरे भाई अनिल और उनकी पत्नी के साथ रहती थीं। गाँव के रिश्ते के हिसाब से वे लोग मेरे चाचा-चाची लगते थे पर बेला फुआ के देखा-देखी मैं भी उन्हें भइया-भाभी ही कहता था। बेला फुआ माँ के मरने के एक मिनट बाद पैदा हुईं थीं। इसलिए 'जन्मते ही माँ को खा गयी' जैसा वाक्य उन पर लागू नहीं होता था। ऐसा वो मानती थीं। शास्त्री जी की पत्नी यानी बेला फुआ की माँ के बारे में प्रसिद्ध है कि उनका कंठ बड़ा सुरीला था। वे आँगन में बैठ कर जब पूरे मन से चइता उठाती थीं कि 'यही ठइयाँ नथिया हेरानी हो

रामा', तो सुनने वाले अस-अस कर उठते थे। शास्त्री जी का तो कहना ही क्या था। पत्नी के जाने के बाद दूधमुँही बच्ची को गोद में लेकर जब वे सोते थे तब अक्सर रात के किसी पहर शास्त्री जी की आवाज में 'यही ठइयाँ नथिया हेरानी हो रामा', सुनाई देता था। शास्त्री जी जब तक जिंदा रहे तब तक उसी हेराये हुए नथिया को खोजते रहे। उनको शास्त्री जी जैसे गुणी पिता ने पाला। पर तमाम सावधानी के बाद भी बेला फुआ में एकल संतान होने का रुतबा आ ही गया।

कुछ लोगों के इम्तहान बड़े होते हैं, इनमें से ही एक थीं बेला फुआ। बेला फुआ के उम्र का चौदहवां साल पुरा होते ही शास्त्री जी के जिंदगी के दिन पूरे हो गए। अपने अन्तिम समय में शास्त्री जी अपने भतीजे के हाथ में चार एकड़ की लगनहार खेती और चौदह साल की प्रखर बेटी सौंप कर परलोक सिधारे। चचेरे भाई-भाभी ने शुरू के दिनों में बेला फुला को थोड़ी ढ़ील दे दी, उसी के सहारे पहले वे बेलगाम हुईं और बाद में तो एकदम छुट्टा हो गयीं। अनिल भइया की पत्नी उन्हें नील गाय कहती थीं, जो सिर्फ नुकसान पहुँचाती है पर किसी काम की नहीं होती।

बेला फुआ को माँ की कोई स्मृति नहीं थी पर रात के गहरे सन्नाटे में उनको बाबूजी बहुत याद आते थे। जब याद आते थे तो रोतीं भी थीं। एक दिन उन्होंने बक्से से बाबूजी का पुराना मरफी रेडियो निकाला। उसे खूब साफ सफाई कर धूप दिखाया और गाँव के दीना किराना भंडार से जीप कम्पनी की बैटरी खरीद कर उसमें लगा दिया। थोड़े से टाँ टूँ के बाद रेडियो से एक बड़ी ही प्यारी आवाज गूँजी 'प्रस्तुत है कार्यक्रम आज के फनकार, हमारे आज के फनकार हैं हजारों, लाखों दिलों के धड़कन, चंचल शोख अदाकारी के अजीम शाहकार टिन-टिन-टिन-टिन 'ओ मेरे दिल के चैन, चैन आए मेरे दिल को दुआ कीजिए', अब तो आप जान ही गए होंगे, जी हां आज के हमारे फनकार हैं राजेश खन्ना और आप सुन रहें हैं अपना पसंदीदा रेडियो स्टेशन विविध भारती और मैं हूँ आपका दोस्त युनूस खान।' इस गाने को सुनते ही सचमुच कई दिनों से बेचैन बेला फुआ को बड़ा चैन मिला था, और यही वह लम्हा था जब बेला फुआ राजेश खन्ना को अपना दिल दे बैठीं। बेला फुआ का तन-मन सब कुछ राजेश खन्ना के रंग में रंग चुका था। कार्यक्रम चल रहा था, राजेश खन्ना कह रहे थे 'मेरा जीवन कोरा कागज, कोरा ही रह गया', यह सुन कर बेला फुआ को बड़ा दुःख हुआ, उनका अपना जीवन भी तो ऐसा ही था। राजेश खन्ना उनसे पूछ रहे थे 'मेरे सपनों की रानी कब आयेगी तू, चली आ, तू चली आ', इस आमंत्रण पर बेला फुआ अपने नितान्त अकेले में भी लजा गयीं, छाती में कुछ रेंगने लगा था। ये नया-नया सा एहसास था, अब उसको संभालें कि जवाब दें। राजेश खन्ना को शायद बुरा लग गया, वे गाने लगे 'तेरी गलियों में ना रखेंगे कदम, आज के बाद', तड़प उठीं बेला फुआ 'ना राजेश खन्ना ना, ऐसा मत कहो, तेरी बात सुन कर दर्द हो रहा है, मैं कैसे आ पाऊँगीं, तूँ ही आ जा, बूला

रही हूँ तुझे।' उस कार्यक्रम का आखिरी गाना बजा 'शायद मेरी शादी का ख्याल दिल में आया है, इसीलिए', इस बाँकपन पर बेला फुआ मुस्कुराईं और धीरे से बोलीं, मगर इस सावधानी के साथ कि राजेश खन्ना के अलावा कोई और न सुन सके 'बड़े हत्यार हो जी, जाने मार दोगे।'

तब से वे रेडियो को अपने प्यार की डोली, राजेश खन्ना को प्रीतम प्यारे और युनूस खान को तो अपना देवर मानने लगीं थीं।

अपने रेडियो, राजेश खन्ना और मुँहबोले देवर यूनुस खान में हर वक्त खोयी रहने वाली बेला फुआ अपने चचेरे भाई-भाभी और पास पड़ोस के लिए गैर जरूरी थीं। खेत का लालच नहीं होता तो वो कब की बेघर हो गयीं होतीं। एक बिगड़ी हुई लड़की के रूप में चर्चित बेला फुआ के चारित्रिक पतन की आधिकारिक पुष्टि तब हुयी जब वे भूसा रखने वाली कोठरी में दुपट्टे के एकल वस्त्र में लिपटी पायी गयीं। खैर!

उस रात गाँव के एक मात्र ब्रह्मचारी कोदई सुकुल किसी काम से अनिल भइया के पास आये थे। वापस लौटते समय उन्हें उस कोठरी से कुछ फुसफुसाहट सुनाई दी। सुकुल जी थे बड़े चित्ती आदमी। गावों में घर के बाहर बने इन भूसा घरों की रात्रिकालीन उपयोगिता के बारे में उनका व्यावहारिक ज्ञान सिद्ध था। इसलिए खुद कभी इन प्रसंगों में धरे नही गए। अब पचपन की उम्र का भरपूर अनुभव भी तो कुछ मायने रखता है। सुकुल जी ने रतिश्रम की उस भाषा को खट से समझ लिया और शोर मचा दिया। लोग जुटे। ऐसे प्रसंगों में लोगों की आँखें ही टार्च बन जाती हैं। पहले तो बाहर से ही आवाज लगायी गयी। अन्दर से कोई प्रतिक्रिया न होते देख अन्ततः सुकुल जी लानटेन लेकर भीतर घुसे, और राम-राम कहते हुए बाहर निकल आये। लोगों की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। सुकुल जी ने लानटेन नीचे रखते हुए धीरे से कहा ''जनानियों को भेज दो बेलवा है।'' अनिल भइया की पत्नी अन्दर गयीं और अनिल भइया लोगों को वापस जाने को कहते हुए घर की तरफ चल दिये। अब वहाँ केवल महिलाएँ बची थीं। बेला फुआ के देंह को किसी तरह दुपट्टे में लपेटते और गालियों से पाटते हुए अनिल भइया की पत्नी घर ले आयीं।

बेला फुआ तो बेला फुआ थीं पूछने पर किसी को नही बताया और तीन दिन बाद बिना पूछे ही मुझसे कहा ''जानता है रे मिठ्ठू, उस रात मेरे साथ तेरे राजेश मामा थे।'' मुझे उनकी बात सरासर गलत लगी ''अब झूठ मत बोलिए।'' मेरे नाराजगी पर बेला फुआ हँसने लगीं ''अरे वाह! बड़ा पक्ष ले रहा है रे अपने मामा का।'' मैं मिनमिनाया ''मामा थे तो कहाँ चले गए, और आपके कपड़े क्या हो गए थे।'' बेला फुआ मेरे गालों को कस कर बकोटते हुए बोलीं ''तेरा मामा भी तेरे ही तरह कारसाज और डरपोक है, जानते हो उस रात जब सुकुलवा हल्ला मचाने लगा तो तेरा मामा घबराहट में मेरा सलवार समीज पहन कर भाग गया।'' यह कह कर बेला फुआ वीभत्स ढ़ंग से हँसने लगीं ''आया था तो सिरफ चढ़ढी-बंडी में और गया सलवार समीज में।'' मैं हतप्रभ था। हँसते हुए बेला फुआ की आँखें भर आयीं, इतनी कि उन्हें रोना ही पड़ा

''वो कारसाज है इतना कि हम उसके पीछे-पीछे उस रात वहां तक खिंचे चले गए थे, और डरपोक है इतना कि हमको अकेला छोड़ कर भाग गया था।'' बेला फुआ की रुलाई अब एक हूक में बदल गयी थी ''उसके फेर में हम और बदनाम हो गये रे मिठ्ठू! पर... पर।''

राजेश मामा गर्मियों के दिन में हमारे घर आम खाने आते थे। मेरा घर बेला फुआ के घर से चार घर का आतर देकर दाहिने तरफ था। आम के बगीचे में ही शायद उन दोनो की भेंट हुयी होगी। बेला फुआ का राजेश खन्ना आम के उन रसदार पेड़ों के बीच कब मेरे राजेश मामा में बदल गया था, यह मैं कभी जान नहीं पाया। इसके बावजूद कि बेला फुआ को देख कर राजेश मामा अक्सर गाते थें कि ''बेला महका रे महका आधी रात को।''

उस बरस भी और उसके बाद भी आम के गाछ खूब फले, उन्हें खाने दूर-दूर से न जाने कितने तोता-मैना उस बगीचे में आते रहे पर मेरे बगल के गांव और बगल के घर से नहीं आये तो नहीं आये सिर्फ राजेश मामा और बेला फुआ।

इस घटना के बाद बेला फुआ टोटल बदनाम हो गयीं। इतनी की उनके मुद्दे पर सार्वजनिक रूप से कोई भी बात करना पसन्द नहीं करता था, पर गांव की अनौपचारिक फुसफुसाहट में संम्पूर्ण बेलाचरित जिंदा था। अनिल भइया की पत्नी जब महिलाओं के बीच होती तो कहतीं ''बेला के देह में एगो भारी रोग है।'' उनकी उस रात की हरकत ने गाँव की सभी लड़कियों के सामने स्त्री-पुरूष सम्बन्ध का वह गोपन रहस्य खोल कर रख दिया था। अब हर पिता उनके उस कृत्य से शर्मिंदा था और हर भाई उनसे नाराज।

बेला फुआ से मिलते रहने की सुविधा मुझे मेरी उम्र ने दिया था। धीरे-धीरे मैं बेला फुआ और उनके घर वालों के बीच संवाद का सेतु बन गया था। घर वाले मुझसे कहते ''जा कह दे कि आ कर खा लें'', और बेला फुआ कहतीं ''जा बता दे कि मेरा मन नही है।'' आंगन और कमरे के बीच की दुरी इतनी कम थी कि दोनों पक्ष सीधे एक दूसरे की बात सुन लेते थे, मैं तो बस दोनों पाले में आता जाता भर था।

बेला फुआ घर-गाँव के लिए भी तेजी से अप्रासंगिक होती चली गयीं। सखी-सहेलियाँ, खेल-खिलौने, हँसी-खुशी सबने उनसे एक-एक कर नाता तोड़ लिया। कुछ बदला तो बस यह कि बेला फुआ की उदासी ओर मेरी उम्र थोड़ी और बढ़ गयी थी।

अनिल भइया की तीन बेटियों में से बड़ी बेटी रोली पिछले दो साल से विवाह के इन्तजार में घर में बैठी हुयी थी। बेला नाम के चक्रवात का दबाव कुछ कम हुआ तो घर वालों को उसकी याद आयी। दुसरे यह कि अनिल भइया की पत्नी के अनुसार बेला फुआ एक रोग थीं, और रोली के संक्रमित होने का खतरा ज्यादा था। इसलिए सभी को रोली की विवाह की चिन्ता सताने लगी।

रिश्ते-नाते, यार-दोस्त सभी को याद किया गया। फलस्वरूप एक अच्छा सा रिश्ता पसन्द आ गया। लड़का बिजली विभाग में स्थायी कर्मचारी था। दहेज की कोई समस्या नहीं थी, अनिल भइया ने छोटी-मोटी ठेकेदारी में काम भर का कमा लिया था। सब कुछ ठीक ही

था पर एक मुश्किल आन पड़ी। बिजली बाबू ने लड़की देखने का प्रस्ताव रख दिया। अभी तक गाँव में इस तरह का मामला नहीं आया था। दूसरे यह कि रोली का रंग-ढ़ग थोड़ा दबा हुआ था, पढ़ाई के एकाउंट में भी न्यूनतम कक्षाएं ही थीं। मध्यस्थों ने बहुत कोशिश की पर बिजली बाबू का करेंट डाउन नही हुआ। दहेज की रकम भी बढाई गयी, पर कोई प्रभाव नहीं। थक हार कर उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। किन्तु इसमें समस्या यह थी कि यदि लड़का रोली को नापसन्द कर दे तब।

''अरे! देख कर मुकर जायेगा, मारते-मारते ससुर का हालते खराब कर देगें'', अनिल भइया ने तमतमाते हुए कहा।

भाभी ने टोका ''हाँ, अब यही बाकी है, और यही करियेगा रोली के पीछे दो और बेटियां बैठी हुई हैं फिर उनका क्या होगा?''

अनिल भइया ने हथियार डाल दिया ''तुम्हीं बताओ रोली की माँ, और क्या रास्ता है?'' भाभी ने कुछ देर विचार किया और फिर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की खुशी के साथ बोलीं ''एक रास्ता है, क्यों न हम बेला को दिखा दें।''

अनिल भइया ने क्रोध मिश्रित आश्चर्य में पूछा 'बेला की शादी?'

भाभी ने रहस्यात्मक ढंग से मुस्कुराते हुए कहा ''हाँ, काहें नहीं।''

भइया के मुँह का स्वाद बिगड़ गया हो जैसे ''जा रे पगलेट, तुम्हारा दिमाग फिर गया है क्या, क्या कह रही हो तुमको कुछ समझ है?''

भाभी ने कहा ''हम सब समझ-बूझ कर ही कह रहें हैं, बात ये है की ''भाभी उनको अपनी योजना बताती रहीं और भइया के कानों में शहनाई सी बजती रही। उसी के आखिर में उनकी बड़ी-बड़ी ठेकेदार आँखें सिकुड़ गयी ''रे! लोग क्या कहेंगे?''

''कोई जानेगा तब न कुछ बोलेगा।''

''और बेला?''

''वो सब हम पर छोड़ दीजिये।''

दूसरे दिन भाभी बड़े भिनसारे ही उठ गयीं थीं। बेला फुआ पता नहीं कब सोती थीं कब जागती थीं। भाभी ने बेला फुआ को बताया कि ''आपके भइया आपके ब्याह के लिए एक बड़ा अच्छा रिश्ता तय कर आये हैं।'' बेला फुआ विश्वास-अविश्वास के भंवर में डूब-उतरा रहीं थीं। क्योंकि बाबूजी के बाद पहली बार इस घर को अपने बारें में कुछ अच्छा सोचते हुए सुना था। उम्र भर की उपेक्षाओं का बर्फ अपनापन की थोड़ी सी गर्माहट पाकर एकबारगी पिघलने लगा। भीतर से कुछ उमड़ा और गले से बाहर आते-आते रूलाई में बदल गया।

उस दिन के बाद बेला फुआ का मन फिर पहले जैसा हो गया था। उनके देह-धरा में अब तक खोयी हुई खुशियों की छोटी-छोटी कलियाँ अंकुरित होने लगी थीं। उन दिनों बेला फुआ बे-बात मुस्कुराने और बा-बात शरमाने लगीं थीं। अपने जीवन के इन्हीं उजले दिनों में उन्होंने

दुसुत्ती के कपड़े पर हरे धागे से कढ़ाई कर दिल का चित्र बनाया और लाल धागे के तीर को उस दिल के आर-पार कर दिया। अपने ही बनाये दिल और तीर को भर निगाह देखा। आँखें तो उनकी अपनी ही थीं पर उन आँखों का देखना बदल गया था।

देंह भी दुसुत्ती का कपड़ा हो गया हो जैसे और उस पर मन था कि रंग बिरंगा फूल हुआ जा रहा था।

इसी के आखिर में भाभी ने आकर बताया कि ''जिस लड़के से आपके रिश्ते की बात हुई है, वो आपको ब्याह से पहले देखना चाहते हैं।'' यह सुन कर बेला फुआ अचकचा गयीं। सशंकित स्वर में पूछा ''ऐसा तो कभी नहीं हुआ है?'' भाभी बोलीं ''होने दीजिए, कौन सा आप में कोई कसर है, आकर देख लें।'' बेला फुआ कुछ सोचते हुए चुप थीं या चुप होकर कुछ सोच रहीं थीं। तभी भाभी ने कहा ''बाकिर इसमें एक ही परेशानी है''। बेला फुआ का सोचना थोड़ा थरथराया, ''क्या?'', ''यही कि आपको देखने के बाद वे ब्याह तक काबू में कैसे रहेंगे।'' यह कह कर भाभी हँसने लगीं। उनकी हँसी के हिलकोरे में नहा उठीं बेला फुआ।

उस सुबह मैं बेला फुआ से मिलने उनके घर पहुँचा। यह वही सुबह थी जिसके तुरन्त बाद वाले दोपहर में उनको देखने के लिए बिजली विभाग के कर्मचारी साहब अपने एक दोस्त के साथ आये। भाभी ने मोर्चा संभाला। लड़के को गाँव-देहात की परम्परा समझायी गयी। उसी के अन्त में भाभी ने यह भी बताया कि ''अभी तक गाँव में लड़की दिखा कर ब्याह नहीं हुआ है, इसलिए आपकी बात रखने के लिए हम लड़की को कमरे में बिठा दे रहे हैं और आप खिड़की से देख लीजिए। जो पूछना हो पूछ लीजिए, वो सब बतायेगी।'' लड़का भी तैयार हो गया। बेला फुआ का दिल धक-धक कर रहा था। पानी, शर्बत, चाय, नमकीन और भाभी की बातों के बीच खाली पड़े समय में बरामदे से दो-चार सवाल अन्दर भेजे गए और उससे लगे हुए कमरे से उतने ही जवाब बाहर आये। बिजली बाबू तो झरोखा दर्शन से ही निहाल हो गए। उनके दोस्त ने ऐसे अवसरों पर दोस्त की परम्परागत भूमिका के तहत बेला फुआ से एक गाना सुनाने की फरमाइश की। गाना! स्कूल भले बचपन में छूट गया था पर विविध भारती से वे जैसे बी.ए. पास हों। और उस पर से उनके लाडले देवर युनुस खान का सपोर्ट भी तो था। उन्होंने अवसर और फरमाइश के हिसाब से दिल की लाइब्रेरी से एक गाना खोज निकाला- ''पहला मिलन मोसे, नहीं रे सजन का,/रहेगा सदा मिलना, धरती गगन का,/युग से वो है मेरा, मैं उस की रे,।/खायी है रे हम ने कसम संग रहने की,/आयेगा रे उड़ के मेरा हंस परदेसी।'' इस गाने के अन्त में बेला फुआ का गला भर आया था। अगर ससुराल का मामला नहीं होता तो बिजली बाबू भी जरूर रोये होते। सब कुछ ओके हो गया। बेला फुआ भी खुश थीं। घर पहुँचते ही बिजली बाबू ने बिना देर किये 'हाँ' कह दिया। भइया-भाभी का उत्साह चरम पर था उस खुशी को सेलिब्रेट करते हुए अनिल भइया और भाभी इतने उत्तेजित थे कि उनके इक्कीस साल पुराने दाम्पत्य की वो रात पहली रात की तरह ताज़ा और हसीन हो गई थी।

उसके बाद तो जैसे बेला फुआ उड़ती रहीं। क्योंकि उन दिनों वे मुझे भी थोड़ा कम लिफ्ट देने लगीं थीं।

एक दिन मैं बेला फुआ से मिलने उनके घर गया। उधर सब कुछ बड़ा अटपटा लग रहा था। एक खामोशी जैसी चीज से सामना हुआ। मैं सीधे बेला फुआ के कमरे में चला गया। बेला फुआ बदहवास सी खिड़की पर खड़ीं थीं। वे मुझे देख बिखर गयीं। उनकी रुक-रुक कर आ रही रुलायी से मैं यह जान पाया कि बिजली बाबू ने बेला फुआ को नहीं रोली को पसन्द किया है।

मुझे विश्वास नहीं हो रहा था। क्योंकि बेला फुआ को कोई लड़का नापसन्द कर दे ये मुमकिन नहीं था। मैं चाहता था कि जाकर बिजली बाबू से पूछूँ कि उन्होंने ऐसा क्यों किया। पहली बार मुझे अपनी कम उम्र खलने लगी थी। रोते-रोते बेला फुआ की देंह ऐंठने लगी थी। बेला फुआ अजीब ढंग से चीखते हुए अपने कपड़े फाड़ने लगीं "क्यों नापसन्न किया क्या कमी है हमारे में।" अपनी खुली हुयी छाती को नोच-खसोट रहीं थीं "देख रे मिठ्ठू! कौन सी कमी रह गयी कि उसने हमको बरज दिया।" रो रहीं थीं बेला फुआ, रो रहा था मैं भी। वंचना और सहानुभूति की दो रूलाइयों ने उस कमरे को नम कर दिया था जैसे। बेला फुआ की चीख पुकार सुनकर घर के और लोग भी भागे-भागे आए। अनिल भइया भी आये पर बेला फुआ की स्थिति देख उल्टे पांव बाहर लौट गये। भाभी फुआ को संभालने में लगी थीं। बेला फुआ लड़ रहीं थीं, खुद से ही। उनके जबड़े कसने लगे थे। एक हृदयविदारक चीख के साथ उनके दाँत लग गए। होश खोकर गिर पड़ीं बेला फुआ।

कुछ दिनों के अन्तर से बिजली बाबू बारात लेकर आये और मारे खुशी में बेला फुआ से तीन साल छोटी रोली को ब्याह कर लेकर गए। अम्मा बारात देखने गयीं थीं। उस घटना के बाद बेला फुआ एकदम से चुप हो गयीं थीं। उनकी ही तरह उनका रेडियो भी चुप रहने लगा था। उसके सेल जमीन पर पड़े-पड़े सुन्न हो गए थे और रेडियो सदमें में आ गया था। बेला फुआ अपने उस देह से भी अनासक्त हो गयीं थीं जिसने उन्हें धोखा दिया था। वो यह तर्क समझ नही पा रहीं थीं कि उनको देखकर बिजली बाबू ने रोली को कैसे पसन्द कर लिया। 'बिजली बाबू' यह नाम आते ही उनके तन में सचमुच का करेंट लग जाता था। एक कोई ऐंठन होती थी जो उनके पूरे देंह को घेरती जाती। सीने में कसाव बढ़ने लगता और पैर अकड़ते जाते। पहले धीरे-धीरे फिर तेजी से उनके हाथ अपने ही शरीर से उलझने लगते। उसी के अन्त में उनका चेहरा बूरी तरह से विकृत हो जाता था। अजीब और बेचैन किस्म की आवाज के साथ उनके दोनों जबड़े आपस में बुरी तरह से बैठ जाते। किसी ने देख लिया तो उनके मुँह में अँगुली डाल कर जबड़ों को खोलवाने की कोशिश करता और यदि नहीं तो वैसे ही घंटों बेसुध पड़ी रहतीं।

मेरा भी बेला फुआ के घर आना-जाना कम हो गया था। उसी वर्ष मैंने आठवीं क्लास पास किया था और आगे की पढ़ाई के लिए मुझे शहर भेज दिया गया। पर उन सालों में बेला

फुआ की जिन्दगी में उनकी मुस्तकबिल के साथ बहुत सारे खिलवाड़ हुए। इसका पूरा ब्यौरा मेरे पास मौजूद है। स्रोत बेला फुआ ही हैं। दूसरे यह कि इस कहानी का आखिरी हिस्सा तो मेरे सामने ही घटित हुआ था। जैसे आपको इस कहानी के अन्त का इन्तजार है, वैसे ही इस कहानी ने भी अपने अन्त के लिए मेरा इन्तजार किया हो जैसे।

वो मार्च के बचे हुए चंद गुनगुने से दिन थे। मैं दसवीं का इम्तहान दे आया था। बदले में मुझे बेशुमार प्यारी-प्यारी छुट्टियाँ मिली थीं। अम्मा के प्यार-दुलार से फुरसत मिलते ही मैं बाग-बागीचा, खेत-खलिहान, नहर-नाला सब जगह हो आया। हर तरफ उनकी तमाम स्मृतियाँ थीं पर वे कहीं नहीं थीं। मैं बागीचे में बदहवास सा घूम रहा था। यह वही बागीचा है जिसके हर पेड़ का पता बेला फुआ को मालूम था। कौन से पेड़ में चैत की पूर्णिमा के बाद टिकोरे आने लगेंगे और किस पेड़ के आमों में जेठ में और किसमें बैसाख के बाद मिठास आयेगी। लहसुनिया आम को देखकर उनका यह कहना कि ''हाय रे! लहसुनिया मेरा परदेसी बहुत तड़पाने के बाद आसाढ का पानी पी कर ही पकता है'', मुझे अक्सर याद आता है। जीवन-जगत की बहुत सारी बातें मुझे बेला फुआ से ही मालूम पड़ीं थीं। वे पेंड़ पर गिलहरियों से और पानी में मछलियों से होड़ लगाती थीं। कबड्डी में वे कभी विरोधी पाले में पकड़ी नहीं गयीं और अपने पाले में जिसको पकड़ लिया उसको उन्होने छोड़ा नही। यही बेला फुआ हैं जो गदरहवा आम के गाछ से किसी तुफान की तरह नहर में कुदतीं थीं। ऐसे कि नहर के दोनो किनारे शरमाने लगते थे। आज जहां कहीं भी होगा नहर का वह पानी उसके मन में उनके देंह के ऐसे कई सारे किस्से होंगे। जरूर।

इसी बीच अम्मा ने अनिल भइया की सबसे छोटी बेटी सन्नों की शादी तय होने के बारे में बताया। मैंने उनसे बेला फुआ के बारे में पूछा। उनका नाम सुनते ही अम्मा पूरा का पूरा बेला पुराण लेकर बैठ गयीं। उनकी बातों का निचोड़ यह था कि ''बेला का कुछ भी ठीक नही है। अनिल अब अपनी तीसरी बेटी सन्नों की भी शादी कर रहें हैं, पर बेला का ब्याह कौन करे, किस्मत भगवान ने बिगाड़ा और चरित्र उसने खुद बिगाड़ लिया और ऊपर से वह रोग।'' मैं हतप्रभ था। मैं बेला फुआ से एक बार मिलना चाहता था। पता नहीं क्यों ऐसा लग रहा था कि वे मेरा इन्तजार कर रही होंगी।

सन्नों की शादी में अब पांच दिन बचे थे। मुझसे रहा नही गया। मैं सीधे अनिल भइया के घर चला गया।

बेला फुआ कमरे में अंधेरा कर लेटी हुयीं थीं। कुछ देर तक निशब्द खड़ा रहने के बाद मैंने धीरे से पुकारा ''फुआ''। उन्होंने बोलने की जगह बल्ब जला दिया। मैंने पूछा ''कैसी हैं फुआ?'' उन्होंने बोलने की जगह बल्ब बुझा दिया। मैं भी चुप था। कमरे में फैली हुयी खामोशी के एक छोर पर वे थीं और दूसरे पर मैं। वहाँ भले ही हम तीन थे, फुआ, मैं और कमरा पर

हम तीनों में एक ही अंधेरा ब्याप रहा था। फुआ ने मेरे हाथ में एक लिफ़ाफा देते हुए सिर्फ इतना कहा ''जा, चला जा मिठ्ठू, इस लिफ़ाफे को सन्नों के ब्याह के बाद खोलना।'' उनकी आवाज एक लम्बें सफर के बाद की थकान की तरह थी। मैं क्या करता। उस अंधेरे में ही चला आया। इस उत्सुकता के साथ कि जाने क्या होगा इस लिफ़ाफे में।

सन्नों की बारात आ चुकी थी। द्वारपूजा सम्पन्न हुआ। दुल्हे के बड़े भाई अनिल भइया के आँगन से कन्या निरीक्षण की रस्म पूरा करा बारात में वापस आये। बारात गाँव के पूरब की ओर के उसी बागीचे में ठहराई गयी थी। अब विवाह के लिए गुलाब दुल्हा को जाना था। दुल्हा बाबू बारात में कहीं दीख नहीं रहे थे। सब लोग उन्हीं का इन्तजार कर रहे थें। पर अब देर होने लगी थी। लड़की के घर से नाऊ दो बार बुलाने आ चुका था। अब इन्तजार हैरानी में बदलने लगी थी। गुपचुप ही सही पर सबके जुबान पर गुलाब दुल्हा की गुमशुदगी थी। बागीचे के हर पेंड़, कोना-अतरा सब तरफ देख लिया गया। गुलाब दुल्हे की कहीं कोई खबर नही थी। अन्ततः बात सतह पर आ ही गयी कि ''गुलाब दुल्हा बारात से गायब हो गए हैं।''

दुल्हे के बारात से गायब होने की खबर ने हर तरफ कोहराम मचा दिया। मध्यस्थों के माध्यम से पहले घराती-बाराती आपस में बातचीत करते रहे और फिर कोई हल न निकलते देख लड़ने लगे। हर आदमी अलग-अलग तरह की बात कर रहा था। उन बातों में सारी गलती दुल्हे की ही बताई जा रही थी। लड़के वाले कमजोर पड़ने लगे थे। तभी घर के भीतर से खबर आयी कि बेला फुआ भी कहीं नहीं मिल रही हैं। इस खबर ने लड़के वालों में थोड़ी सी जान डाल दी। अब आरोप-प्रत्यारोप बराबरी पर होने लगे। अन्ततः भाषा ने भी अपना धैर्य खो दिया। सब कुछ अभिधा में होने लगा था ''तेरा लड़का हरामी है, तो तेरी लड़की छिनाल है।'' लड़की पक्ष के एक सज्जन ने गुलाब के भइया को धक्का दे दिया। लड़के के चाचा ने उन सज्जन पर बंदूख तान दी। उसी बीच कहीं से एक पत्थर उकता कर आया और चाचा के गोरे-गंजे खोपड़ी से टकरा कर भींड़ में कहीं गिर गया। खून की एक ताजातरीन धार बह चली। और उसी में बह गयी हमारे गाँव की पूरी शराफ़त।

इसके बाद का ब्यौरा ठीक-ठीक उनके पास भी नहीं था जो उस घटना के चश्मदीद थे। घराती-बाराती जो जिसको जहाँ पा रहा था, मार रहा था। हर तरफ अफरा-तफरी का माहौल था। बारात से किसी तरह एक जीप और दो ट्रैक्टर-ट्राली भाग पाये। बाकी के बाराती पैदल ही खेत-खेत भाग रहे थे। एक तो नया अनचिन्हा इलाका दूसरे घोर अंधेरा, भागते हुए बाराती भटक कर गाँव के ही किसी न किसी आदमी से टकरा रहे थे, फिर तो । कुछ बाराती तो पकड़े जाने पर खुद को लड़की वाला बता कर बचने की कोशिश कर रहे थे। पूरे गाँव में उपद्रव चरम पर था। सब बोल रहे थे पर सुन कोई नहीं रहा था। गाँव वालों ने बारात का शामियाना, छोलदारी जला दिया। गुलाब दुल्हा के बड़े भाई, पिता और चाचा बारात में आये नाच वालों के साथ भागे। अनिल भइया और उनकी दुनाली पर खून सवार था। वे दोनों गुलाब

दुल्हा और उनके घर वालों को खोज रहे थे। एक न समझ में आने वाले शोर में पूरा गाँव डूब सा गया था। बारातियों के भ्रम में अनिल भइया के एक ममारे भाई और दो मौसेरे साले मार खाकर बेसुध पड़े थे। अनिल भइया के दूसरे रिश्तेदार भी जिन्हें गाँव वाले नहीं पहचानते थे, उनकी भी मरम्मत खूब हुयी थी। बाद में तो जो भी नया कपड़ा पहने दिखता वही मार खाता। जो बाराती यह समझ गये वे अपना कुर्ता उतार कर घराती बन गये थे। कुछ लड़कों ने एक प्रौढ़ व्यक्ति को पीछे से पकड़ा और उसका मुँह बांध कर लात-घूसे से भरपूर सेवा की। मारने वाले केवल यही पूछ रहे थे कि ''बता बुढ़्ढे! दुल्हा कहाँ है बता''। बेहोश होने से एक क्षण पहले वह बूढ़ा केवल इतना ही बोल पाया ''अरे! हरामियों, मैं कैसे बताऊँगा, मैं तो अनिल बाबू का मौसा हूँ।''

हमारे गाँव की स्थिति बिल्कुल वैसी ही हो गयी थी जैसे बिजली बाबू का ख्याल आते ही बेला फुआ का हो जाता था।

मैं किसी तरह बच-बचाकर अनिल भइया के घर में घुसा। घर का दृश्य और भयावह था। भाभी चीख-चीख कर रो रहीं थीं और बेला फुआ को लयबद्ध धराऊँ गालियाँ दे रहीं थीं। मैं बेला फुआ के कमरे में पहुँचा। अन्दर बाहर से एकदम उल्टा था। बाहर सब कुछ अराजक और अशान्त था पर भीतर हर चीज ठीक ढंग से संवरा और व्यवस्थित था। कमरे में पड़े सन्दुख में एक-दो पुराने से घुड़े-मुड़े कपड़ों के बीच मरफी रेडियो औंधा पड़ा था। मैंने रेडियो उठाया और कुछ सोचते हुए बाहर निकल आया। आँगन से निकलते हुए मेरे पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। मंडप में रखी पूजा की थाली से एक बिल्ली बेफिक्र होकर दही खा रही थी। जैसे कुछ चीजें कभी नही रुकती, किसी के लिए भी।

मैं बाहर निकल आया। रजिन्दर दरवाजे के सामने वाले नीम के पेड़ के नीचे बैठे रो रहे थे। हमारे गाँव में रजिन्दर अच्छे आदमी नही माने जाते थे। वे देखने से ही लफंगे लगते थे। हर समय छींटदार बुशर्ट और गले में रूमाल बांधे गाँव में घूमते रहते थे। लोफरों जैसे। उनके बारे में मेरी राय भी बहुमत के आधार पर ही निर्मित हुयी थी। पर वो रात कुछ और थी जिसने मुझे और दिनों की तरह रजिन्दर से बच कर निकलने नहीं दिया। उस रात रजिन्दर ने जो कुछ बताया उसके बाद मेरी हैरानी घबराहट में बदल गयी थी। मैं कुछ भी समझने और वहाँ रूकने की स्थिति में नही था। इसलिए भागते हुए अपने घर का रास्ता पकड़ा। मुझे सुरक्षित देखकर अम्मा-बाबूजी को राहत मिली होगी। मैं सीधे अपने कमरे में आ गया। दरवाजा बंद कर बाहर के शोर को बाहर ही बंद कर देना चाहता था। पर आवाजें थीं कि....। रह-रह कर मारो-पकड़ों की आवाज दीवारों से टकरा रही थी। मेरे भीतर हाहाकार मचा हुआ था। मैंने बेला फुआ का दिया हुआ लिफ़ाफा निकला। उसमे मेरे नाम बेला फुआ की चिट्ठी थी। चिट्ठी में वर्तनी की तमाम गलतियाँ थीं। अब पता नही की वो वर्तनी की गलतियाँ थीं या बेला फुआ की अपनी ही जिन्दगी। अब आप खुद ही पढ़ लीजिए।

जै माँ सरोसती

सदा सोहाय

खत लिखा सिरी उपमा जोग मिठ्ठू के वास्ते जनम जनम की दुखियारी बेला की ओर से। तूँ एकदमें हमको छोड़ कर चले गए रे मिठ्ठू! गलती भी तेरी का है मरद जात ही लबार होती है। मिठ्ठू रे! तुमको तो पते होगा कि बिजली बाबू ने हमको छोड़ रोलिया को पसन्न कर लिया था। हमको दुःख तो बहुत हुआ। भाभी कुछ झूठ-साँच बोल कर आगे सब ठीक हो जाने का भरोसा दिलाती रहीं। इसके बाद मेरी चार बार और दिखावनी हुयी। मैं सब में फेल हो गयी। उसी साल गुल्लू, भाभी की दो भतीजियों और एक मौसेरी बहन का ब्याह तय हुआ।

हमारे साथ ही ये काहें हो रहा था हम समझ नहीं पा रहे थे। हमारा मन टूट गया था। अपने पर से भरोसा खतम होता जा रहा था।

भाभी का भाई रजिन्दर यहीं आकर रहने लगा था। वो लरहा कुकुर की तरह हर समय हमारे फेर में रहता। हम उसके कारन अपने कमरे से भी निकलने से डरने लगे थे। वो भाभी के सामने ही रिश्ते की आड़ में अंट-संट मजाक करता था। भाभी मुस्कुरा कर उसका मन बढ़ाती थीं।

बाकिर तो उस दिन हमारा सारा भरम टूट गया रे मिठ्ठू ! भाभी ने हमको बताया कि वे सारे लोग हफ्ते भर के लिए मौसेरी बहन के ब्याह में जा रहे हैं। रजिन्दर घर पर मेरे साथ रहेगा। चाम का धोकरी औउर कुकुर रखवार। हमारा तो जान ही सुख गया। हम एतराज किये तो हमको ऐसे-ऐसी बातें सुननी पड़ीं की हम तुमको बता नहीं सकते। जानते हो मिठ्ठू उस दिन भाभी ने भइया के सामने ही हम पर हाथ उठाया। वो चुप रहे। चचेरे ही सही बाकिर थे तो मेरे भाई ही। जबसे हम होश संभाले तबसे भइया दूज से लेकर पीड़िया तक न जाने कितने व्रत-उपवास उनके लिए ही किए। भइया की चुप्पी ने रहा-सहा भरम तोड़ दिया था।

ये मिठ्ठू! मैं तुमसे औरत के मन का एक हाल बता रही हूँ कि औरत को उसका मरद रखे या छोड़े उससे औरत की जिनगी नही रुकती, बाकिर जब उसका भाई साथ छोड़ देता है तब उसका बहुत कुछ छूट जाता है। जानते हो धरती पर चाहें जितने तुफान आये, भूडोल हो, आग लगे या बाढ़ आ जाये बाकिर तो चनरमा धरती का साथ नही छोड़ता। दूसरे सारे ग्रह सुरूज का चक्कर लगाते रहे औउर ये चनरमा है कि धरती का साथ निबाहता रहा। यही लिए जब धरती को माँ कहा गया तो चनरमा सबका मामा हो गया। हम तो बस एतना जानते हैं कि एक औरत को राम जइसा मरद मिले न मिले बाकिर तो चनरमा जइसा भाई जरूर मिलना चाहिए।

अब हमारे आगे-पीछे कोई नहीं था। अपना जिनगी तो हम खतम मान लिए थे। हमको भइया-भाभी के नीयत ठीक नही लग रही थी। हमारे साथ ये लोग का कर रहे हैं औउर का चाहते हैं ये जानने के लिए रजिन्दर ही एक रास्ता था। औउर एक रात हम चल पड़े उस रास्ते पर।

उस अंधियारी रात ने मेरा अगातम तय कर दिया। हमारे साथ इतने दिन से जो कुछ हो रहा था वो सब कहने में का है। बाकिर तो हम सब कुछ खतम करने का फईसला मन ही मन कर लिए हैं। तुमसे बस एक अरदास है कि इस चिठ्ठी के बारे में गाँव-घर में सन्नों के ब्याह तक कुछ न बताना। खूब मन लगाकर पढ़ना औउर खूब खूश रहना।

तुमहारी फुआ

बेला

मुझे कुछ सूझ नही रहा था। बेला फुआ की चिट्ठी और रजिन्दर की बातों को जोड़ने की कोशिश मैं उलझता जा रहा था। बेला फुआ की चिट्ठी तो आपने पढ़ ही लिया होगा। रजिन्दर ने जो कुछ मुझे बताया उसका सारांश यह था कि बेला फुआ से उनको प्यार हो गया था। बेला फुआ ने रजिन्दर को अपना सब कुछ सौंप कर उस प्यार पर मुहर भी लगाया था। रजिन्दर ने उसी प्यार के एवज में बेला फुआ को भइया-भाभी का पूरा खेल बता दिया था। जिसमें बेला फुआ को दिखा कर रोली, गुल्लू और रिश्ते की दूसरी लड़कियों की शादी करायी गयी थी। और आगे सन्नों की भी शादी में बेला फुआ का ही इस्तेमाल होना था। रजिन्दर ने यह भी बताया कि सन्नों की शादी के बाद जैसे भी हो भइया-भाभी बेला फुआ की ज़मीन अपने बेटों के नाम कराएँगे और फिर उनको पागल करार देकर कहीं भगा देंगे। यह सब जानने के बाद बेला फुआ ने रजिन्दर से कहा था कि भइया कहते तो वे अपनी जमीन राजी-खुशी अपने भतीजों के नाम कर देंती। किन्तु वे अब अपनी जमीन रजिन्दर के नाम कर उनसे ब्याह करेंगी। रजिन्दर इस बात पर भी रो रहे थे कि बेला फुआ के उस वादे और प्यार के फेर में जोरू और ज़मीन की एकमुश्त आमद वाली बात को वे सच मान कर दीदी-जीजा से दगादारी कर बैठे।

उस रात रजिन्दर कह रहे थे कि बेला फुआ ने उनको हमेशा धोखे में रखा। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार बेला फुआ को दिखा कर सन्नों की शादी गुलाब से फिक्स हो गयी। उसी के कुछ दिनों बाद बेला फुआ ने रजिन्दर के हाथ सन्नों के दुल्हा गुलाब को एक चिट्ठी भिजवाया था। रजिन्दर ने कुछ जानना चाहा तो बेला फुआ ने उनका गाल खीचते हुए मुस्कुरा कर कहा था ''बौउरा गये हैं का, अब भांजी का भी चिठ्ठी पढ़ियेगा।'' इतने अंदाज और अधिकार से गाल खिंचा गया कि रजिन्दर मान लिए कि वो चिट्ठी सन्नों ने ही अपने भावी पति के लिए लिखा होगा। पर उस रात रजिन्दर सबसे अधिक इसी बात पर रो रहे थे कि बेला फुआ ने उनको अपना कहा था, माना नही था। नहीं तो।

यहीं पर आकर मैं गड़बड़ा गया। बेला फुआ की चिट्ठी और रजिन्दर की बातें कुछ-कुछ मिल रहीं थीं। पर बेला फुआ ने जो चिट्ठी मुझे लिखी थी उसमें कहीं उस चिट्ठी का ज़िक्र नही था जिसके बारे में रजिन्दर ने मुझे बताया। जबकि साक्ष्य बता रहे थे कि दो चिट्ठियाँ लिखी गयीं थीं। एक मेरे नाम और दूसरा गुलाब दूल्हा के नाम। मेरे नाम लिखी गई चिट्ठी तो आधी-अधूरी रिपोर्ट जैसी थी। गुलाब दुल्हा के नाम लिखी गयी चिट्ठी कुछ खास

रही होगी शायद। मेरे सोचने की रफ्तार इस 'शायद' शब्द पर आकर रुक गयी थी। मैं उलझता जा रहा था। बेला फुआ ने उस चिट्ठी के बारे में मुझसे छिपाया क्यों? अब वह पूरा प्रकरण किसी जासूस या किसी समकालीन कहानीकार के लिए एक ठीक-ठाक मसाला बनता जा रहा था। गाँव में मचा कोहराम अभी भी जारी था। रुक-रुक कर आवाजें आ रहीं थीं। मैं फैसला नहीं कर पा रहा था कि यकीन किस पर करूँ, बेला फुआ की हस्तलिखित चिट्ठी पर, रजिन्दर के इकबालिया बयान पर या दोनों पर।

मेरा सिर दुखने लगा। अपना ध्यान बाँटने के लिए मैंने बाबूजी के टार्च से बैटरी निकाल कर बेला फुआ के रेडियो में लगाया। उसे हमारे गाँव के बारे में कुछ भी नहीं पता था। वो हमेशा की तरह अपनी ही धुन में मगन गा रहा था। इतने भयावह समय में रेडियो के गानों से मुझे तसल्ली सी मिली। कुछ देर तक गाना सुनते हुए मैं सो गया था। मुझे आज भी याद है उस रात एकदम से सो जाने के ठीक पहले वाली मेरी नींद में रेडियो बज रहा था कि ''ये है भारत की सुरीली धड़कन विविध भारती। इस समय हमारे स्टूडियो की घड़ी में रात के ग्यारह बज कर तिरपन मिनट और पैंतालीस सेकेण्ड हुए हैं, आप सुन रहें हैं अपना पसंदीदा कार्यक्रम सदाबहार नगमें, तो लीजिए सुनिए इस कार्यक्रम का आखिरी गाना और इजाज़त दीजिए अपने दोस्त युनूस खान को, नमस्कार।''

तो साहेब इस तरह यह किस्सा गया वन में, सोचें अपने मन में। पर हाँ, क्या आप इस तरह सोच सकते हैं कि उस रात रात युनूस खान ने रेडियो पर 'बेला महका रे महका आधी रात को' गाना बजाया होगा?

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र,)-470003
मोबाइल - 09479398591

मीरा का काव्य : स्त्री स्वाधीनता और स्त्री चेतना का पर्याय

–उर्मिला शिरीष

मीरा की जन्म से लेकर मृत्यु तक की यात्रा किंवदन्तियों, विवादों और संघर्ष से भरी रही है। सवाल उठता है कि यह संघर्ष क्या उन्हें 'स्त्री' होने के नाते करना पड़ा या सामाजिक व्यवस्था के कारण या परम्पराओं के कारण या मीरा की चेतना अपने समय और समाज से आगे थी– जो उनके देशकाल के मानस से साम्य नहीं रखती थी। अन्यथा राजनीतिक विरोध तो अपने समय में तत्कालीन सत्ताओं और सम्राटों की तानाशाही के कारण कई साधु-संतों को उठाना ही पड़ा था। क्योंकि इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि मीराबाई ने अपने समय को, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था को, राजसत्ता और पितृसत्तात्मक विधि-विधानों को, परम्पराओं और मर्यादाओं को न सिर्फ नकारा था, बल्कि उसका सामना सच्चाई, ईमानदारी तथा दृढ़ता के साथ किया था।

मीराबाई का सम्पूर्ण काव्य एक स्त्री के, एक भक्त स्त्री के समय के साथ टकराने का काव्य है... एक ऐसी स्त्री जो स्वभाव से ही विद्रोही थी, चेतनाशील थी, जो आध्यात्मिकता और परमसत्ता के करीब पहुँचने की चेष्टा कर रही थी, जो स्त्री और पुरुष के भेद के परे सिर्फ इंसानी रूप में जीना चाहती थी। जो अपनी स्वाधीनता तथा आत्मसम्मान को जीना चाहती थी, जो परम्परा और मर्यादा को चुनौती दे रही थी, जिसने यह कहकर कि 'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई' पुरुष समाज की सत्ता और अहंकार को चोट पहुँचायी थी। यद्यपि वह यह चोट किसी नारीवादी मुक्ति या प्रतिरोध के रूप में नहीं पहुँचा रही थी। परिवार और समाज को ऐसा लग रहा होगा। ऐसा लगने की वजहें भी थीं। बचपन से ही जिसका रुझान घर-परिवार, खेल-खिलौने में न होकर एक साँवली-सलोनी मूर्ति में रहा होगा, उसकी उपस्थिति को अलग से ही देखा जायेगा। इस सबके बावजूद उस महान् कृष्ण उपासक, प्रेम में डूबी... भक्ति को नये अर्थ देती मीराबाई की जगह भक्तिकाल में अलग और विशिष्ट थी। उनका प्रेम, समर्पण... त्याग... भक्ति ही शक्ति थी और उसी शक्ति ने मीराबाई को जीने का आधार दिया था, वरना सोचिये, आज जब इक्कीसवीं सदी के अति आधुनिक और सभ्य कहे जाने वाले समाज में स्वाधीन व्यक्तित्व और विचार रखने वाली स्त्री को समाज द्वारा प्रताड़ित और लांछित किया जाता है... कल्पना कीजिए कि तब के... सामन्ती समाज में एक अकेली 'ना कहने वाली स्त्री को घर से लेकर बाहर तक कितना कुछ सहन करना पड़ा होगा। मुझे सीजियस का एक कथन याद आ रहा है। वह

कहती है– 'स्त्री के लेखन में दमन के खिलाफ सब कुछ कितना विस्तृत, नयी सम्भावनाओं से भरपूर, शाश्वत, शक्तिशाली होकर उभरा है।' मीराबाई का काव्य मीरा की उन्हीं शाश्वत और शक्तिशाली भावनाओं का प्रतीक है... क्योंकि मीरा हमारी तरह बैठकर सोच-समझकर तो लिखती नहीं थी। वे तो अपने मन की स्वामिनी थीं... ईश्वर यानी कृष्ण के ध्यान में हर पल डूबी... शायद उससे भी आगे जब भी, जैसा भाव उनके मन में जमता था, वे सोते-जागते, उठते-बैठते, नाचते-गाते... उन भावों को व्यक्त कर देती थीं। उनके काव्य में इतनी सहजता और मार्मिकता का कारण भी यही है कि उनके पद आज भी गाये जाते हैं... उन पर नृत्य किया जाता है... इतने लम्बे अन्तराल को पार कर कोई व्यक्ति, काव्य या विचार यदि हमारे भीतर हूक पैदा करता है, इसलिए क्योंकि जीवन के भीतर से यानी आत्मा से निकली बात हमेशा सच्ची होती है...। सच्चाई, पवित्रता, प्रेम, भक्ति और समर्पण की मीराबाई पर्याय हैं।

मीराबाई के बारे में पढ़ते हुए मुझे गहरी बेचैनी रही। एक स्त्री होने के नाते मैं कल्पना करती रही उनके बचपन की, उनके विवाह की, विवाह के बाद ससुराल में आते ही कुलदेवी की पूजा से इंकार के बाद की विषम परिस्थिति की... पति के साथ उनके सम्बन्धों की...। भोग-विलास का जीवन जीने वाले प्रतिष्ठित घराने के पुत्र ने जब सुहाग सेज पर अपनी पत्नी को कृष्ण की मूर्ति के साथ देखा होगा... उनके हृदय में कैसा तूफान उठा होगा, उनकी 'बॉडी लैंग्वेज' क्या रही होगी... परिवार के अन्य सदस्यों के कोप की और पति की मृत्यु के पश्चात् राजस्थान की स्त्रियाँ अपनी अस्मिता के लिए सामूहिक जौहर कर लिया करती थीं या... पति के साथ सती हो जाती थीं। निश्चय ही मीरा को पति के साथ सती होने के लिए दबाव डाला गया होगा... तब मीरा ने फिर दृढ़ता के साथ यह बात नकार दी होगा- मेरा पति तो गिरधर गोपाल है... तो हर कदम पर मीरा का विरोध, विद्रोह अपने लिए काँटों भरा मार्ग तैयार कर रहा था... मुझे लगता है मीरा ने स्वयं को आम स्त्री माना ही नहीं होगा। वे स्वयं को महज एक 'जीव' मानती होंगी। सांसारिक बन्धनों, नियमों और परम्पराओं से मुक्त 'जीव' जो अपने जीवन की यात्रा को अलग ही ढंग से पूर्ण करना चाहती थी। जैसा कि नरोत्तमदास स्वामी का कहना था कि- 'मीरा ने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की कल्पना पति के रूप में की है।''

अपने विचारों और आत्मिक सम्बन्धों पर दृढ़ मीराबाई का जीवन कितने अमानवीय तत्त्वों से भरा होगा... सोचकर मेरा मन काँप उठता है। क्योंकि मीरा के साथ रहने वाले लोग 'आम लोग' थे, सामान्य से इंसान। संकीर्णताओं से भरे। वर्चस्व का अहंकार थोपने वाले। वे मीरा के संतत्व को, मीरा की चेतना को, मीरा की आध्यात्मिकता को कहाँ समझने वाले? - उनके जीवन के बारे में प्रचलित किंवदन्तियों के अलावा एक सच यह भी है कि पहले के विवाह ... राजघराने के विवाह... राजनीतिक कारणों से ज्यादा होते थे। जय-पराजय... युद्ध... सीमाओं की रक्षा... स्वयं को शक्तिशाली बनाने के लिए दूसरे राज्यों या राजाओं से संधि... उसमें विवाह भी शामिल होता था। मीरा का विवाह भी ऐसा ही हुआ होगा, हुआ ही था... पर मीरा को इन

सारी बातों से क्या लेना-देना। वे एक-एक बन्धन तोड़ती... आगे बढ़ती अपनी भावनाओं को व्यक्त करती गयीं। पर चूंकि मीरा का काव्य प्रेम और भक्ति का काव्य था, उस समय भक्तों की जनसामान्य में पूछ थी, इसीलिए मीरा का काव्य और मीरा की एक भक्त के रूप में प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढ़ गयी थी। अभी हाल ही में एक बहुत ही सुन्दर और प्रामाणिक लेख अरविन्द सिंह तेजावत का 'तद्‌भव' में छपा है। वे लिखते हैं- 'मीरा काव्य से ऐसा प्रतीत होता है कि मीरा महाराणा विक्रमादित्य एवं राजामाता करमेती द्वारा उस पर किये जा रहे अत्याचारों की जानकारी समस्त प्रजाजनों को देना चाहती थी ताकि वह मेवाड़, मारवाड़ एवं शेष राजपूताने की जनता व जागीरदारों को अपने पक्ष में कर सके। यही कारण है कि मीरा अपनी कविता में कृष्णोपासना के साथ-साथ महाराणा व राजमाता द्वारा उस पर किये गये अत्याचारों का वर्णन करती है।''

मीरा का काव्य ही नहीं... आचरण, व्यवहार, सोच... सब कुछ क्रान्तिकारी है। वे लकीर की फकीर नहीं बनतीं। वे कबीर की तरह क्रान्तिकारी हैं। 'क्रान्तिकारी' कहना मौलिक दृष्टि से या उनके व्यक्तित्व को खोलने के लिए जरूरी है, अन्यथा मीरा समाज को सुधारने की बात करीब की तरह सीधे-सीधे कभी नहीं कहती हैं। वे अपने आराध्य... अपने प्रिय के बारे में जैसा महसूस करती हैं वैसा ही समाज के सामने रख देती हैं। प्रेम में डूबी मीरा कहती है -

''राणानी मैं गिरधर के घर जाऊँ
गिरधर म्हाँरो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ
मेरी उनकी प्रीत पुरानी उन बिन पल न रहाऊँ
पूर्व जनम की प्रीत हमारी अब नहिं जात निबारी।''

धर्म या भक्ति या... प्रेम या समर्पण की बात चलती है तो भारतीय परम्परा की बात जरूर की जाती है। मीरा परम्परा को नहीं मानतीं... कहना चाहिए मीरा का सिर्फ कृष्ण प्रेम और भक्ति के लिए जो तत्त्व जरूरी है, उसी को मानती हैं। वे सिर्फ कृष्ण को मानती हैं... कृष्ण के हर रूप को वे आत्मसात कर लेती हैं। कृष्ण के बारे में हर पल सोचते-विचारते कृष्णमय हो जाती हैं... तो क्या मीरा एक प्रतीक हैं... (स्त्री के रूप में) भक्ति की, प्रेम की, जो सम्पूर्ण संसाधनों को त्याग कर एक अभौतिक सत्ता की स्थापना करती हैं। उन्हें राजपाट... सुख-साधन, ऐशो-आराम... हास-विलास कुछ नहीं चाहिए, वे इन सबसे परे हैं। उनका दोष भी कहीं-कहीं प्रकट हो जाता है -

''नहीं सुख भावे थांरो देसलड़ों रंगरूड़ो
थांर देसां में राणा साध नाही छै, लोग वसै सबज कूड़ो
ग्रहजा गाँठी राणा हम सब त्यागा, त्याग्यो कर हो चूड़ो
काजल टीकी हम सब त्यागा, त्याग्यो छै बाँधन जूड़ो
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, वर पायो छै पूरो।''

मीरा के पास तर्क नहीं है, केवल भावनाएँ हैं। ये भावनाएँ ही उनकी भक्ति का, समर्पण का, प्रेम का, विरह का, त्याग का, संसार से मुक्त होने का... अद्‌भुत संसार रचती हैं। यदि दर्द है... तो वह भी अपनी चरम अवस्था में है... विरह वेदना भी चरम पर पहुँच जाती है—

दरद की मारी वन-वन डोलूँ वैद मिल्या न कोई
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी, जब वैद साँवलिया होय।

मीराबाई विद्रोह की ज्योति जलाती हैं। उनका विद्रोह उस तरह का नहीं है कि सड़क पर झण्डा लेकर नारेबाजी करते हुए अपनी बात मनवानी है। उनके विद्रोह में एक जागृति का भाव है, त्यागने का भाव है, साधना का भाव है... संकल्प और उसको पूर्ण करने का भाव है। जब तक विद्रोह का भाव नहीं होगा, तब तक जागृति का भाव भी नहीं होगा। चाहे वह विद्रोह ... अपने आप से या समाज से। तभी मनुष्य समग्रता में जीने और देखने का मार्ग तलाश पाता है... मीरा का जीवन 'सम्पूर्णता' में विश्वास करता था। इसलिए आप पायेंगे कि मीरा बचपन से जिस मार्ग पर चली थी, उसी मार्ग पर उन्होंने अपने जीवन का समापन भी किया। सम्पूर्ण कलाओं के अवतार कहे जाने वाले कृष्ण को उन्होंने आत्मसात किया था... उनकी भक्ति का भाव माधुर्य का है। वे दासत्व में या किसी के संरक्षण में स्वयं को नहीं रखती हैं। अपितु वे कृष्ण के प्रेम में सभी रंगों में रंगती हैं, सभी रसों को जीती है, यहाँ तक कि होली का रंग भी उन्हें रंगता है।

फागुन के दिन चार, होली खेल मना रे
बिन करताल पखावज बाजै, अणहद की झंकार।

मीरा के पद सीधे हृदय को छूते हैं, क्योंकि वे शाश्वत और सच्चे हैं। मीरा की भावदशा को ये पद बड़ी ही खूबसूरती से व्यक्त करते हैं। भक्त होकर मीरा सांसारिक जीवन से परे अखिल ब्रह्माण्ड में प्रवेश करने लगती हैं। शायद इसीलिए कहीं-कहीं उनका मन... उनके भाव... उनकी चेतना, उनकी दृष्टि, उनका व्यवहार, उनकी यात्रा... रहस्यवादी सी लगते हैं। वे परमात्मा या ब्रह्म की तरफ उन्मुख दिखाई देती हैं। बावजूद उनकी भाषा सीधे हमारे मन में, हमारी आत्मा में, हमारी सोच में समा जाती है। मीरा तमाम तरह की प्रवंचनाओं, शास्त्रों, पुराण के भारी-भरकम तटों को तोड़ती हैं। उनका मन निर्मल था, विश्वास से भरा... राग-भक्ति से भरा... राग-द्वेष से परे, अविश्वास से अलग तभी तो उन्हें जहर अमृत लगता है और साँप... शालिगराम नजर आते हैं—

राणा भेजा जहर पियाला इमरत करि पी जाणा
डिबिया में भेज्या जा भुजंगम सालिगराम करि जाणा
मीरा तो अज प्रेम दिवानी साँवलिया वर पाणा।

मीरा का यह प्रेम कितना अनूठा... और उन्माद (प्रेम की पराकाष्ठा को छूता) से भरा है कि वे प्रेम में डूबकर बावरी होकर दीन-दुनिया से बेखबर नाचने लगती हैं—

पग घुँघरूँ बाँध मीरा नाची रे
मैं तो मेरे नारायण की हो गयी आपहि दासी रे
लोग कहें मीरा भई बावरी न्यात कहे कुलनासी रे।

मीरा के काव्य की मूल चेतना में स्त्री (यदि हम मीरा को स्त्री के रूप में मानते हैं, अन्यथा मीरा तो महज भक्त थी, पर चूँकि मीरा का जन्म एक स्त्री के रूप में हुआ और वे इस संसार में ही व्यवहार करती हैं, उनसे व्यवहार किया जाता है, इसलिए उनके बारे में एक स्त्री के बारे में उसी तरह की चर्चा की जाती है) की स्वतंत्रता है, स्त्री का स्वाभिमान है, स्त्री के अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति है। मुझे लगता है कि जब स्त्री प्रेम में समर्पण करती है तो वह सब कुछ त्याग कर सांसारिक मोह से विमुख होकर प्रेम करती है। पुरुष के प्रेम में विजेता का भाव होता है, पुरुषत्व होता है। इस पारम्परिक भाव को सांसारिक स्त्री-पुरुष के बारे में तो माना जा सकता है, पर मीरा के भीतर जय-पराजय का भाव होगा, मैं नहीं मानती...। क्योंकि जिसने स्वयं को पहले से ही समर्पित कर दिया हो, वह इस संकीर्णता में पड़ेगी भी नहीं और वैसे भी मीरा के पास खोने के लिए कुछ नहीं था। किसी के साथ प्रतिस्पर्धा भी नहीं थी... प्रतिदान की अपेक्षा भी न थी, इसलिए जितनी तीव्रता उनके प्रेम में थी उतनी ही तीव्रता, विदग्धता, करुणा, वेदना और व्यथा उनके विरह में भी थी। प्रेम और विरह का यहाँ अद्‍भुत चित्रण हैं -

हेरी मैं दरद दीवानी, मेरो दरद न जाने कोय
घायल की गति घायल जाने कि जिण लाई होय।

मीरा के जीवन के उत्तरार्द्ध के बारे में कहा जाता है कि पति की मृत्यु के बाद और तात्कालिक राजनीतिक संकटों के चलते मीरा को मेवाड़ छोड़कर द्वारका जाना पड़ा। तमाम किंवदन्तियाँ ऐसी हैं जिनसे पता चलता है कि मीरा काफी समय तक द्वारका में रही थी। नाभादास की भक्तमाल पर प्रियादासकृत 'भक्तिरसबोधिनी टीका', वैष्णवदास द्वारा लिखित 'भक्तमाल' का दृष्टान्त तथा नागरीदास रचित 'सिंगार सागर' में यह विवरण दिये गये हैं। अरविन्द सिंह तेजावत लिखते हैं– ''कहा तो यह जाता है कि मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा तथा मीरा के देवर उदयसिंह ने मीरा को पुनः मेवाड़ लौट आने का आग्रह करने के लिए अपने जागीरदारों एवं पुरोहितों को द्वारका भेजा था। मीरा पुनः मेवाड़ लौटना नहीं चाहती थीं, अतः प्रचलित किंवदन्तियों के अनुसार वह द्वारकाधीश कृष्ण की मूर्ति में लीन हो गयी थीं।''

एक किंवदन्ती यह भी है कि मीरा चुपचाप दक्षिण भारत की ओर चली गयी थी। यह बात गले नहीं उतरती कि मीरा द्वारकाधीश की मूर्ति में विलीन हो गयी थी। मीरा का मूर्ति में विलीन होना कई सवाल पैदा करता है, क्योंकि वैज्ञानिक ढंग से यदि सोचा जाये तो यह बात संशय पैदा करती है और आत्मा, मन तथा हृदय के स्तर पर विचार किया जाये तो लगता है कोई शक्ति जरूर रही होगी जिसने मीरा को अंगीकार कर लिया होगा, यथार्थ के स्तर पर यह बात ज्यादा तथ्यपरक लगती है कि वे वहाँ से निकलकर दक्षिण चली गयी हों या उदयसिंह ने मीरा की हत्या करवा दी हो। हत्या करवाकर शव को गायब करना राजा-महाराजाओं के लिए मामूली बात होती थी।

परिता मुक्ता के अनुसार इस बात की पुष्टि होती है कि द्वारका के मन्दिर से बाहर की तरफ एक भूमिगत रास्ता है। जब राणा के प्रतिनिधि मीरा से मिले, तब उसका वहाँ से भागना बहुत मुश्किल नहीं रहा होगा एवं बाद में वे गाते हुए यात्रियों के दल में सम्मिलित हो गयी होगी, इस प्रकार मीरा हाथ में इकतारा लेकर यात्रा करती रहीं। स्वयं की स्वतंत्रता की स्वीकार्यता एवं दूसरे लोगों को प्रेरणा देते हुए उनके गीत दमित एवं पीड़ित जनता तक सतत पहुँचते रहे स्वतंत्रता के संदेश का आह्वान करते हुए।

मीरा का वापस उसी समाज में लौटना सम्भव ही नहीं था, क्योंकि वे मानसिक और आत्मिक रूप से स्वयं को अलग कर चुकी थीं। उनका ईश्वर यानी कृष्ण के मोहक संसार से भौतिक दुनिया में लौटना मीरा जैसी भक्त को कैसे स्वीकार हो सकता था?

मीराबाई जो स्वतंत्रता 'स्त्री स्वतंत्रता' की प्रतीक मानी जाती हैं, जिनका सारा जीवन स्त्री की स्वाधीनता का पर्याय है, जो भक्ति की अद्‌भुत मिसाल हैं, उनको संत साहित्य में तो छोड़िये, भारतीय साहित्य में वो जगह नहीं मिली जो मिलनी चाहिए। उनका भक्तिभाव, संतत्व का भाव और स्त्रीत्व का भाव कहीं न कहीं द्वन्द्व पैदा करता है। पश्चिम से आये आन्दोलनों, नारी मुक्ति, नारी विमर्श... मीरा के सामने कितने बौने प्रतीत होते हैं। भारतीय स्त्री आन्दोलनों में मीरा को क्योंकर अनदेखा किया जाता रहा है। क्या एक भक्त स्त्री किसी आन्दोलन की चेतना को मोड़ने में सक्षम नहीं थी? मीरा की संघर्ष-यात्रा में इतने आयाम एक स्त्री आन्दोलन की आधारशिला नहीं बन सकते? मुझे तो शिकायत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भी है, जो भक्तिकाल की तमाम शाखाओं-प्रशाखाओं पर लिखते हुए तमाम संत कवियों पर विस्तार के साथ लिखते हैं, लेकिन मीरा पर मात्र डेढ़ पृष्ठ लिखते हुए अपना मत नहीं के बराबर बताते हैं- 'मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों में है और उनका गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, श्याम जी, मलूकदास आदि सब भक्तों ने किया है।' आचार्य शुक्ल का मत मीराबाई के बारे में क्या था, यह जानने की जिज्ञासा मन में रह ही गयी। क्या शुक्ल जी ने उनके जीवन को सिर्फ इसलिए कमतर आँका, क्योंकि वे एक स्त्री थीं?

मीरा का समूचा काव्य स्त्री-संघर्ष के कई पक्षों को कई तरह से रखता है... भारतीय साहित्य में मीरा के गौरवपूर्ण स्थान के लिए मूल्यांकन की आवश्यकता है। ऐसा मूल्यांकन, जो भक्ति के परिप्रेक्ष्य में हो, भक्ति की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में हो... जो प्रेम और समर्पण के परिप्रेक्ष्य में हो, जो मीरा के आन्तरिक संसार के परिप्रेक्ष्य में हो... जो मीरा को एक ससुराल-पीड़िता, समाज-पीड़िता... स्त्री की छवि से बाहर निकालकर उनके आध्यात्मिक जीवन की विशद व्याख्या कर सके। मीरा भारतीय समाज की एक अनूठी देन है जो सदियों में पैदा होती है और जिनके द्वारा प्रस्फुटित आलोक सदियों तक अपनी आभा फैलाता रहता है... जरूरत है उस आलोक को अपने भीतर उतारने की।

ई-115/12, शिवाजी नगर,
भोपाल-462003,
मो. 09303132118

दलित कथा : उत्तर-आधुनिक अर्थ-मीमांसा

–हरपाल सिंह 'अरुष'

'जो कोई अपने लिए नया स्वर्ग बनाने में सफल होता है वह उस स्वर्ग को बनाने के लिए आवश्यक सारी शक्ति अपने नरक से ही लाता है।

-नीत्शे

दलित साहित्य पर विचार करते समय नीत्शे के इस कथन को स्मरण रखना होगा। दलित साहित्य भारतीय परिवेश में विकसित हुआ साहित्य है। इसकी जड़ों को भारतीय संस्कृति, परंपरा, इतिहास और मिथकायनों के साथ-साथ भारत में आए और आते जा रहे राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तनों (लोकतंत्र, समाजवाद और पूंजीवाद) के स्त्रोतों से पोषण मिलता है। भले ही यह पोषण नकार के रूप में हो या प्रतिरोध के रूप में। स्वीकार के रूप में हो या समर्थन के रूप में।

दलित साहित्य की इस तरह पोषित समाजशास्त्रीय यथातथ्यता पर विचार करते समय मैं अपना ध्यान 'दलित कथा' साहित्य पर केंद्रित करना चाहता हूँ। कथा साहित्य में उपन्यास और कहानी को लिया जाता है। यदि हम 'कथा' पर विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि 'कथा' में समाज का कोई आयाम, कई आयाम या बहुत से आयाम प्रतिबिंबित होकर अपना-अपना प्रतिनिधित्व हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। आयामों को इस स्थिति में लाने का कार्य लेखक अपने अनुभवों और कलाकौशल के योग से करता है। मिथककथाओं से लेकर परिकथाओं, वैताल-प्रेतों की कथाओं व पशु-पक्षियों पर आधारित कथाएँ मात्र किसी विशेष व्यक्ति, सामाजिक-प्राकृतिक समूह या वर्ग के प्रतिनिधियों की कहानी मात्र नहीं थीं अपितु उनमें जीवन मूलक मानवीय सत्य, तथ्य और आकांक्षा की अभिव्यक्ति भी विद्यमान होती थी। उन कथाओं के पात्र जहाँ अपने वर्चस्व और उल्लास की अभिव्यक्ति करते थे तो कुछ पात्र ऐसे भी होते थे जो अपने कटु अनुभवों की दुःस्मृति को वहन करते हुए उन परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए मिलते थे जो उनको विभिन्न समस्याओं के चक्र में उलझा देती रही थीं।

दलित जीवन का यथार्थ दुःस्वप्न से कम नहीं रहा है। आज भी अधिसंख्य दलित इसी दशा में जी रहे हैं। भले ही स्थिति में बदलाव आ गया है परंतु दशा में कोई बदलाव आ गया हो दिखाई नहीं देता। दलित समुदाय के सम्मुख उच्चतर विकल्पों का अभाव रहा है। फिर भी इस समुदाय ने दुःस्वप्नों के विकल्प की खोज को तिलांजली नहीं दी। अच्छे भविष्य की आकांक्षा

और स्वप्नशीलता को जीवित रखकर नैराश्य से उबरने का प्रयत्न सँभालकर चलने की जिजीविषा को जीवित रखा है। आज की परिस्थितियों में, दलित समुदाय के लोगों में इस सभ्यता का विकास रिमार्केबिल स्तर तक हो गया है। विशेषकर पढ़े-लिखे लोगों में। हमें यह चिंता करनी चाहिए कि 'दलित कथा' मात्र सपने और आकांक्षा को वहन करने वाली अभिव्यक्ति को लेकर नहीं चलतीं बल्कि सामाजिक सरोकारों को भी अंतर्वस्तु के रूप में सँभालती है। ये सरोकार जीवनमूलक यथार्थ के विभिन्न पहलुओं के रूप में पहचाने जाने चाहिए। स्वप्न देखने की क्षमता और भाषायी सामाजिक अभिव्यक्ति के रसायनिक संयोग से उद्भूत रचनात्मक संभावना के अध्ययन की आवश्यकता पर बल देने पर ही 'दलित कथा' साहित्य को समझा जा सकता है।

भाव और अभाव के संघात से आकांक्षा अर्थात स्वप्न का आविर्भाव चित्र पर होता है। अभाव से भाव की ओर बढ़ने की लालसा जिस यूटोपिया को जन्म देती है वह आकर्षक और स्पृहणीय तो होता ही है। मनुष्य अपनी भौतिक (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक) सीमाओं में रहता हुआ अपनी समस्याओं का हल ढूँढता है। एक सीमा तक वह इसमें सफल भी हुआ है। जिस प्रकार मानव चित्त अचेतनावस्था में सपने देखता है उसी प्रकार चेतनावस्था में वह कथाएँ बुनता है। सपनों और कथा के संबंध को विज्ञान के किसी सूत्र के द्वारा भले ही सिद्ध न किया जा सकता हो पर इस संबंध को समझने के लिए सामाजिक स्थितियाँ, समाज-मनोविज्ञान, समाजेतिहास और मानवीय सरोकार काफी सहायता कर सकते हैं। यह एक समाधान दिखाई देता है जो हमें समाज के रास्ते से स्वप्न और कथा के छोरों को जोड़ने वाले सौदर्यानुभव से साक्षात्कार करा सकता है। ऐसा होने पर कथा के कलेवर में समाज की अनेक ऐसी बातें जो अव्याख्येय स्वीकार की जाती रही थीं खुलकर सामने आने की संभावनाओं के साथ उपस्थित होती हैं।

'दलित कथा' में दलितों के अनुभव और स्वप्न मिलकर उनकी दृष्टि, चेतना और भाषायी अभिव्यक्ति के माध्यम से समाजेतिहास ही स्थान पाता है। यहाँ पर समाजेतिहास प्रतीक रूप में अभिव्यक्ति होता है। 'दलित कथा' को हमें दलित जीवन के इतिहास के प्रतीक के रूप में देखना चाहिए। दलित जीवन भारतीय समाज के स्फीयर में रिमार्केबिल स्थान प्राप्त समुदाय का यथार्थ है, इसकी यथातथ्यता भारतीय सामाजिक परिवेश से नहीं विलगाई जा सकती। अतः 'दलित कथा' में भारतीय समाज की वस्तुस्थिति ऐतिहासिक प्रामाणिकता के साथ अनुस्यूत होती है। दलित समाज सामुदायिक उन्नति के सपने देखता हुआ जिस वृहद सामाजिकता के भीतर रहता हुआ भी अलग प्रकार का जीवन जी रहा होता है कथा साहित्य में आंतरिक इतिहास के रूप में उसको चित्रित करता है। इस प्रकार कथा-कला में एक सोदेश्य परिणति का अंतर्गुफन साधकर दलित साहित्यकार कथा को आगे बढ़ाता है। कथा में इतिहास का समावेश समाजेतिहास के क्रम में न होकर तथ्यों, घटनाओं, उद्देश्यों और आकांक्षाओं-सपनों को बल प्रदान करने के लिए होता है। कथा के कलेवर में रचनात्मक शक्ति को यह अधिकार

प्राप्त होता है कि वह चाहे तो अतीत और भविष्य को वर्तमान के रूप में अभिव्यक्ति कर सकती है। इतिहास और समाज परस्पर रिले-मिले होते हैं। जैसे रेत और लौह-कण। कथा इनको अलगाकर अध्ययन करने में चुंबक की तरह काम आती है।

'दलित कथा' साहित्य की अर्थ-मीमांसा पश्चिम से आयात किए गए ज्ञान-उपकरणों के द्वारा संभव नहीं है। अब तक भारत में नवजागरण, ज्ञानोदय, प्रगतिवाद, जनवाद, अस्तित्ववाद, आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकतावाद को ज्ञानमीमांसा के विकास के रूप में स्वीकार करके विद्वतसमुदाय आत्मगौरव का अनुभव करता रहा है। ज्ञान पर गर्व करना बुरी बात नहीं। न ही ज्ञान के विशिष्टीकरण में ही दोष को खोजा जाना चाहिए। बात तो तब आकर हास्यापद हो जाती है जब एक प्रकार के मानकों से दूसरे प्रकार के संदर्भो की व्याख्या का प्रयास किया जाता है। जब ऐसा प्रयास करने वाला प्रेक्षक-आलोचक अपने प्रयास में असफल हो जाता है तब वह उन संदर्भो की यथातथ्यता पर ही प्रश्न चिन्ह लगाने लगता है जो उसके मानकों में फिट नहीं बैठते। ऐसा आलोचक अपनी सामर्थ्य पर संदेह न करके उन संदर्भों को अव्याख्येय, अनानुमेय और सौंदर्यानुभव कराने वाले तत्त्वों से रहित घोषित करके स्वयं को 'दृष्टि संपन्न' सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। जबकि कोई भी संदर्भ, तत्त्व और तथ्य स्वयं में अव्याख्येय और मौन नहीं होता। वैसे मौन में भी सौंदर्य और अभिव्यंजनात्मक क्षमता को स्वीकार किया गया है।

पश्चिम का पूँजीवाद और लोकतंत्र इस दिशा में विकसित हो गए हैं कि वहाँ पर इतिहास, साहित्य और दर्शन के माध्यम से यूटोपिया की प्रकृत निर्मिति के लिए बहुत ही कम धरातल बच रहा है। किसी रचना की अर्थ मीमांसा के लिए नई सैद्धांतिकी की खोज की वहाँ विशेष आवश्यकता नहीं रह गई हैं। सामाजिक अग्रसरता के पैरों तले आकर अनेक विचार कराह रहे हैं। इतने पर भी वहाँ पर कथा साहित्य का सृजन निरंतर जारी है। भले वहाँ पर घोषणाएँ की जा रही हों कि नई व्यवस्था में इतिहास विमर्श और कथा-मीमांसा के अर्थ की वास्तविक भूमि खोजे भी नहीं मिल रही। इसी प्रभाव में आकर भारत में भी कई प्रतिभा संपन्न आलोचक अपना आलोचक-कर्म छोड़कर विमर्श के आसान मार्ग को अपना रहे हैं तो आश्चर्य क्यों हो। पश्चिम के समाज के विकल्पों का स्थगन करके पूँजी और मानव-देह को समाजेतिहास में स्थापित करने का प्रयास चल निकला है। वहाँ पर पूँजी और मानव-देह को केंद्रीयता प्राप्त हो रही है। भारत में सामाजिक परिस्थितियाँ एकदम भिन्न हैं। यहाँ पर सामाजिक परिवर्तन की संभावनाएँ विद्यमान हैं। यहाँ पर सामाजिक रूपातंरण के सपने के स्थगन के लिए गुंजाइश नहीं है। इस समाज में रूपांतरण के सपने की विस्तृति और तीव्रता दलितों के मानसिक धरातल पर विद्यमान है। पश्चिम की दुनिया में विलंबित पूँजीवाद के पतनशील समय में समता के लिए स्थान ही नहीं बचा है। ऐसे में आलोचना व विमर्श के विकास का भार भारत के कंधों पर आ गया है। यहाँ का सामूहिक अवचेतन एक नए रूपांतरण के स्वप्न से संपृक्त है। इस सामूहिक अवचेतन में दलित समुदाय के चित्त पर अंकित सपनों की संख्या और तीव्रता सर्वाधिक है। अतः 'दलित कथा' में ही अर्थमीमांसा खोजने की आवश्यकता अधिक है।

पश्चिम में एक चतुराई भरा रास्ता खोज लिया गया है। वह है रचना के पाठ को पाठक केन्द्रीयता के खाते में डाल देने का। पाठक प्रायः आम नागरिक होता है। वह पत्रिकाओं और मीडिया के पास जाकर अपनी राय व्यक्त करने की इच्छा नहीं रखता। कोई पाठक ऐसी इच्छा रखता भी हो तो उसके लिए ऐसे अवसरों का अभाव ही रहता है। ऐसी परिस्थितियों में आलोचना और विमर्श के लिए स्पेस घट जाता है। फिर 'दलित कथा' को चर्चा के लिए अवसर कम पड़ जाते हैं।

भारत में अधिकतर हिंदी में, आलोचना को सैद्धांतिक आधार प्रदान करने के प्रयास लंबे समय से किए जा रहे हैं। ऐसा आलोचक सिद्धांतवादी मूल्यों को अवध्य मानता है। उसकी दृष्टि में वे पवित्र साध्य होते हैं। जबकि समय के साथ आगे बढ़ती हुई रचनाएँ इस प्रकार सामने आती हैं कि कई प्रचलित मूल्य क्षरण झेलते से होकर उनमें स्थान पाने को तरस जाते हैं। ऐसी रचनाओं का पाठ करने वाला विमर्शकार मूल्यों पर, उनकी दीर्घजीविता पर, पवित्र और उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाता है।

चतुर आलोचक कथा में आए ऐतिहासिक तत्त्वों और समकालीन संदर्भों की अनदेखी करके प्रांसगिकता को महत्त्व देने लगते हैं। इस प्रकार वे रचना की सार्थकता की खोज करने में अपने श्रम और ज्ञान का उपयोग करने लगते हैं। जबकि सार्थक और प्रासंगिक ऐसे शब्द है जो व्यक्ति और समाज-समूह के अनुसार अपनी अर्थ छवि निर्धारित करने की सामर्थ्य रखते हैं। यह बहुलार्थकता इसलिए उपयोगी है कि यह अर्थसंरचनाओं की जड़ता को तोड़कर शब्दों में अर्थ की अन्य संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त करती है। ऐसा उस मानसिकता पर प्रश्न चिहन अंकित करके किया जाता है जिसके अनुसार इतिहास के वस्तुनिष्ठ होने की आशा की जाती है तो दूसरी ओर यह भी चाहती है कि वह हमारी मानसिक अभिलाषा और सांस्कृतिक अभिरुचियों के अनुकूल भी हो। इस विरोधाभास का विखंडन करने के लिए ही 'दलित कथा' में कई ऐसे संकेत और प्रतीक उभरकर आते हैं जो इतिहास, स्मृति और विकल्प के स्थगन का भंजन करते हैं। इस स्थगन से मुक्त होकर, या होने के लिए नए रास्तों की तलाश करना, भविष्य को अधिक मानवीय-पक्ष में खड़ा होने योग्य बनाना, भविष्य को अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न करना जैसी आकांक्षा यहाँ पर मिलती है। जीवन को केंद्रीयता प्रदान करना, आज की जटिल और वैज्ञानिक समझ और विरोधाभासी मान्यताओं में जीवन को विमर्श का केंद्र बिंदु बनाना, 'दलित कथा' में रेखांकित किया जा सकता है। जब उत्तर-आधुनिकता के नाम पर शक्तिशाली द्वारा समन्वय और समता की आकांक्षा का गला घोटा जा रहा हो तब विमर्श (सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पूँजी और शक्ति) का अग्र विकास के दायित्व का भार पिछड़े होने के कारण तीसरी दुनिया के देशों के कंधों पर आ पड़ा है तो भारत में सबसे निचले पायदान पर रहने वाले दलितों के कंधों पर क्यों नहीं माना जाए।

पूँजीवाद और पूँजी के हाथों में खेलता शक्तितंत्रवाद, जिसको कुछ लोग लोकतंत्र कहते हैं; अपने वीभत्सतम रूप में सामने है। तंत्र पर सभी ओर से पूँजी की कसावट महसूस की जा रही है। नैतिकता, मानवीयता और लोककल्याण को पूँजीपति की भाषा में समझाकर जनमानस में उतारा जा रहा है। इसको यथास्थितिवाद नहीं कहा जाएगा तो क्या कहा जाएगा। यथा-स्थितिवाद एक प्रकार से जड़तावाद ही होता है। जब इसमें अतीत-गौरव के नाम पर, भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था का समावेश कर दिया जाता है तब दलित की इतिहास-स्मृति मिथक कथाओं पर न टिककर अनुभवों के धरातल पर पैर जमाने का प्रयास करती है। बदलते समय के साथ पश्चगामिता के स्थान पर अग्रगामिता की आवश्यकता रहती है। अतः 'दलित कथा' में परिवर्तन के रूपायन को जगह मिलती है। इस रूपायन को मूर्त्तरूप देने के लिए आकांक्षा के प्रतीकों को कथा-पात्रों के रूप में चित्रित किया जाता है। यह रूपायन समय की परिवर्तनशीलता को आधार बना कर आए बदलावों और आगे आने वाले बदलावों की संभावनाओं और आकांक्षाओं की प्रतीक- अभिव्यक्ति को सँभालता है। 'दलित-कथा' में भारत का समाजेतिहास, संस्कृतीतिहास और मानवेतिहास का चित्रण, विश्लेषण-रंगों के साथ किया जाता है। एक प्रकार से इन इतिहास-सत्यों का पुनर्पाठ प्रस्तुत किया जाता है।

यह जान लेना भी आवश्यक है कि हिंदी में (अन्य भारतीय भाषाओं में भी) योरप के साहित्य की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। इतने पर भी अंतर्वस्तु के रूप में परंपरागत धर्म-संस्कृतियों के प्रति विश्वास आधारित आग्रह की अतिशयता दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार इस साहित्य में आशय और अवधारणा के स्तर पर ठहराव आ गया प्रतीत होता है। जबकि दलित साहित्य में, विशेषकर कथा साहित्य में जीवनेतिहास की खोज में इतिहास और संस्कृति के विखंडन की प्रक्रिया को अपनाया जाता है। दलित समाज त्रासद परिणामों को झेलने के दौर से उबरने का प्रयास करने वाला समाज है। इसमें उन पात्रों की भरमार है जो जीवन की त्रासद परिणतियों की संभावनाओं के प्रति सजग रहते हुए संघर्षरत हैं। दलित रचनाकार उन पात्रों का सृजन करते हैं जो अपनी त्रासद नियतियों के विकल्प की खोज में संलग्न होते हों या अपनी ऐसी आकांक्षा को अभिव्यक्त कर सकते हों। विकल्पहीनता के विरुद्ध सन्नद्ध ये पात्र अंतर्विरोधग्रस्त समय में नए विकल्प खोजकर लाने के प्रति कटिबद्ध हैं। विकल्प-स्थगन की अनवरत समय-सारणी की अविच्छिन्नता के प्रतिरोधी बनकर तोड़ने वाले पात्र यहाँ पर क्रियाशील मिलते हैं। दलित साहित्यकार जानता है कि पूँजी और सत्ता के गठजोड़ ने विश्व परिदृश्य पर विकल्प स्थगन को चिपका दिया है। भारत का यथास्थितिवादी बुद्धिजीवी इस विकल्प-स्थगन का समर्थन परंपरागत धर्म-संस्कृति के नाम का ध्वज लेकर इस प्रकार कर रहा है कि उसकी स्थिति और गति दलित समुदाय को विकल्पहीनता की परिणति तक पहुँचाकर ही दम लेना चाहती हो। यथास्थितिवाद को वह बुद्धिजीवी 'भारतीय समाज का यथार्थ कहकर भले ही प्रचारित करता हो परंतु 'दलित-कथा' इसके भी प्रतिरोध में आकर वैकल्पिक साहित्य का स्वरूप

प्रस्तुत कर रही है। सामाजिक यथास्थितिवाद में भोगे गए अनुभवों का दबाव दलित लेखक से कथा लिखवाता है। कथा में युगबोध के साथ परंपरा, इतिहास और मान्यताओं के विमर्श भी उभरकर आते हैं।

जीवन को अधिक सुखमय, अधिक सुंदर और समता आधारित मानवीय मूल्यों को संभालने वाली समाज व्यवस्था के अंतर्गत लाकर अधिक सरल बनाने के विकल्पों की खोज वाली परिणति का अर्थ देने वाली रचनाएँ 'दलित कथा' के रूप में आने लगी हैं। इन रचनाओं के मुख्यार्थ से विचलित होकर पश्चिम के पाठकवाद और अन्यार्थो या अनेकार्थों का सहारा लेकर नया वितंडा खड़ा किया जाने लगा है। घोषणा की जा रही है कि कथा कि परिणतियाँ खो गई हैं। निष्कर्ष देने वाली कथाओं का समय लद गया है। वास्तव में ऐसा नहीं है। मात्र इतनी सी बात है कि सत्ताकेद्रों के हाथों से परिणति और आकांक्षा निकलकर स्वप्न दलितों के हाथों जाती दिख रही है। इसीलिए कथा की पुनर्रचना (आलोचना) का दायित्व पाठक का मानकर लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सम्मान प्रदर्शित करने का नाटक किया जाता है। अर्थों की बहुलता, विकल्पों की तलाश, परिणतियों के गढ़ने की स्वतंत्रता, मानवाधिकारवादी स्वतंत्रता आदि के द्वारा लेखक के दायित्व बोध के अंत के साथ लेखक की लेखकीय स्वीकृति का नकार करना बौद्धिक शगल हो गया है। गजब का अतिर्विरोध! जो वर्ग, शब्द में अर्थ की सत्ता-स्थिरता को शाश्वत मानता है। वह ही शाब्दिक रचना में अर्थों को अनिश्चयात्मक बताकर बहुलता का पक्षधर बनता है। ऐसे महानुभावों की दृष्टि से विकल्प (चाहे वह अर्थों के संदर्भ में ही क्यों न हों) सत्ता के विकल्प के रूप (भले ही स्वरूप में हो रहे बदलाव मात्र ही हो) में स्वीकार किए जाते हैं। जबकि 'दलित-कथा' में पात्र, समाज के विभिन्न वर्गों-समुदायों, में से उनके प्रतिनिधियों के रूप में आते हैं। कथा के कलेवर में स्थितियाँ, भाषा-संवाद, रचनात्मक अंतर्गठन आदि तत्त्व भी समाज के वर्गो-समुदायों के प्रतिनिधिक गुण को वहन करते हैं। ये कथाएँ समाज के विभिन्न वर्गों-समुदायों के प्रतिनिधियों के समुच्चय मात्र नहीं होती बल्कि जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति करने वाली रचना होती हैं। दलित-बोध और दलित-चेतना को प्रखरता से सुसज्जित करके दलित जीवन के लिए नए विकल्पों की खोज करने की आकांक्षा से पूर्णरूप से भरे हुए पात्रों को सँभालने वाली 'दलित कथा' सामाजिक विकास को संजोने को दायित्व के रूप में लेकर चलती है। पात्र, स्थिति, भाषा और रचनात्मता के संयोजन से समाज-विकास क्रम को अग्रसरता प्रदान करने वाले त्वरण से संपन्न है तो संस्कृति से साक्षात्कार करते समय प्रश्नाकुलता से काम लेती है। सांस्कृतिक संबोधों के प्रचलित अर्थों के स्थान पर नव्यार्थ के विकल्प का संधान करती है। इतिहास, समाज और संस्कृति का पुनर्पाठ प्रस्तुत करती है।

एक वैकल्पिक समाज संरचना की खोज 'दलित कथा' करती है। ऐसी समाज संरचना जिसमें मानव जीवन को, समता आधारित मानवीय मूल्यों को अपनाते हुए अधिक उत्कर्षगामी बना सके।

पश्चिम का अनुकरण करने के पुरोधा बौद्धिक जिस सत्ता केंद्र या मुख्यार्थ को बिखरने को अराजकता में अर्थाते हैं और अस्थिर और अनिश्चियबोधक कहते हैं वह वास्तव में सत्ता का विकेंद्रीकरण है। यह विकेंद्रीकरण सत्ताकेंद्रो के विच्युतीकरण के रूप में न होकर असल में सत्ता व समाज में मानवकेंद्रित व्यवस्था स्थापित करने की ओर सोचने का आरंभ हैं। 'दलित-कथा' में सत्ता का, चाहे वह अर्थ सत्ता हो या अर्थ मीमांसा की सत्ता, न केंद्रीकरण है न विकेंद्रीकरण, यहाँ पर तो मानवता केंद्रित सत्ता की स्थापना का स्वप्न है। दलित साहित्य के विरोध में जो स्वर उठ रहे हैं उनकी चिंता अपने सत्ता-अधिकार को अक्षुण्ण बनाए रखने की है। ऐसे स्वर यदि अन्यार्थों को उभरने का अवसर और स्वतंत्रता देते हुए प्रतीत होते हैं, या स्वयं ऐसा होने देने को सिद्धांत रूप में स्वीकार करते हैं तो ऐसा करके अन्यों की बहुलता को स्वयं नियंत्रित करने के व्यवस्था प्रबंध और नियम संभालते हैं। दलित को अन्य मानकर चलते हैं तो मुख्यधारा (जो गैर-दलित की अपनी है) से इतर या अन्यधारा मानकर व्यवहार करते हैं। परायेपन की भावना 'हम' और 'अन्य' के क्षेत्रों में मानव को विभाजित करती है जबकि दलित विचारक मानवमात्र को एक इकाई के रूप में स्वीकार करता है। मुख्यार्थ और अन्यार्थ के विभाजन का स्त्रोत सत्ताकेन्द्र की सघन और भेदक शक्ति-आकांक्षा के स्थाईकरण की धरती पर उगता है। यहाँ पर अन्यार्थ को मुख्यार्थ की उपभोक्ता वस्तु की तरह समझा जाता है। जिस तरह सामाजिक बाजार में मनुष्य की मनुष्य के रूप में स्वीकृति को स्थगित करके संसाधन के रूप में स्थापित किया जाता है। जबकि 'दलित कथा' में एक पात्र मनुष्य के रूप में उपस्थित होता है जो वहाँ पर रहते हुए समाज के किसी वर्ग-समुदाय के प्रतिनिधि का अर्थ रखता है। उसका अपना एक अर्थ होता है जो अनेक सामाजिक संदर्भो और अर्थों से अनेक स्तरों पर संघर्ष-संघात करता है। यह उसकी स्वत्वता है, आंतरिक निजी अर्थवत्ता है और सामाजिक विकल्पधर्मिता भी। यह तथाकथित का अंश होते हुए भी उससे संघर्ष करता हुआ अपनी सामाजिक उपस्थिति का प्रमाण बनकर विद्यमान रहता है।

'दलित कथा' के आंतरिक अर्थ को ग्रहण करने के लिए कथा में आए पात्र से तादात्म्य स्थापित हो जाने पर यह आभास बड़ा काम आता है जो संवेदना, सहानुभूति, घृणा को वहन और अर्जित करने वाले पात्र में या उसके क्रिया-कलापों में पाठक औत्सुक्य के साथ रुचि लेने लगता है कि आगे क्या घटित होने वाला है। ऐसा घटनाओं, संयोगों और पूर्वाभासी संकेतों के कारण होता है। 'दलित कथा' यथार्थ के अधिक निकट होती है। यहाँ पर भविष्य के रूपांतरण की संभावनाएँ अपनी परिणति की सांद्रता और संघनता के साथ विद्यमान होती हैं। इनमें स्थान और दमन से संघर्ष करते पात्रों को दोहन और प्रताड़ना के सम्मुख अविकल रूप से सक्रिय पाया जाता है।

उत्तर-आधुनिक समय की शोषण व दमनकारी प्रक्रिया देह केद्रित होकर सामने आती है। शिक्षा में कौशल का अतिशय समावेश करके मानव को देहधारी संसाधन में रूपांतरित कर दिया गया है। मानव के चित्त का अनुकूलन करके मानव-देह की क्षमताओं को अर्थ-सत्ता से

संबद्ध करके उत्पादन-कौशल को मानव -देह के सम्मान और रोजगार से परिभाषित कर दिया गया है। यह कार्य कितनी चतुराई, सूक्ष्मता और गहराई से किया गया है। इसकी परतें खोलने की साहसिक संभावनाओं को 'दलित-कथा' के पात्र विकल्पहीनता से मुक्ति दिलाने के लिए कथा-धरातल पर विद्यमान रहते हैं। विकल्प के विषय में 'दलित-कथा' अनिश्चहीन व संदेहहीन होकर सामने आती है।

भारतीय समाजव्यवस्था, परंपरा, संस्कृति कई क्षेत्रों में इतनी सुदृढ़ सख्त और अपरिवर्तनीय रही है कि इनकी समय के परिवर्तन के साथ संबंध बनाने-निभाने या संगति स्थापित करने में असमर्थता सामने आती रहती है। शुद्रों की, जिनका आज पिछड़ों-दलितों में रूपांतरण हो गया है, मानव-देह का दमन करके उनके श्रम और श्रम-कौशल को संसाधन के रूप में ढाल दिया गया था। उनको सत्तावर्चस्व के आगे आनत मुख रहकर जीने के स्वभाव में अनुकूलित कर दिया गया था। शिक्षा-संपत्ति से वंचित करके ऐसी दशा में ला दिया गया था कि अपने होने को अपनी देह और देहजनित श्रम से बढ़कर ये जान ही नहीं सके। यह भारतीय समाजेतिहास का वह सत्य है जो आज के उत्तर आधुनिक समय की व्याख्या कर सकने में समर्थ हैं। 'दलित कथा' में एक विकल्प अंतर्भूत होता है कि मानव को मात्र देह के माध्यम से अपने हित में उपयोग करने वाली व्यवस्था के सापेक्ष मानवकेंद्रित व्यवस्था को स्थान मिले। दलित देह की मूल्यवत्ता, मस्तिष्क की क्षमता, चित्त में जन्म लेने वाली चेतना सामाजिक-मानवीय धरातल पर समता के आधार पर स्वीकृत की जाएँ। यह एक सचेतन क्रांतिकारी रूपांतरण कथा-क्षेत्र में 'दलित कथा' के ढाँचे के रूप में उद्‌भूत हुआ है।

परिस्थितियों के गढ़ने का दायित्व पूँजी व सत्ता के केंद्रों के पास सुरक्षित है। ऐसी परिस्थितियाँ सामने हैं जिनके गहन और सूक्ष्म अतर्विरोधों के प्रभाव व्यापक और स्थूल रूप में सामने है। जिनके कारण मानव-देह, उसकी क्षमता और कौशल पर मानव का अपना नैसर्गिक अधिकार नहीं रह गया है। जीवन मूलक अस्तित्व की अस्मिता को स्वीकार करने की चिंता को केंद्रीय स्थान दिलाने की प्रेरणा व आकांक्षा जगाना 'दलित कथा' में आए पात्र जानते हैं यहाँ पर अनुभव समाजेतिहास की स्मृति और विकल्प काम्यता से एकम एक होकर सामने आता है। दलित व्यक्ति भी सारतः तत्त्वतः मानव ही तो है।

95, श्री हरिवृंदावन सिटी-I
जानसठ रोड, मुजफ्फरनगर-251001
उत्तरप्रदेश
मो. 09456080696

हिन्दी में दलित आत्मकथा लेखन के मायने

–हिमांशु कुमार

साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन काल से ही दलित और गैर-दलित-सर्जकों की अलग-अलग परम्परायें विद्यमान रही हैं। सिद्धों-नाथों से लेकर वर्तमान समय तक हिन्दी पट्टी में इसे महसूस किया जा सकता है। आज तक समाज जातिभेद की विषमताओं से छुटकारा नहीं पा सका है, इसलिए समस्यायें बरकरार हैं। कोई स्थायी समाधान न होने से समय-समय पर इसके लिए आंदोलन होते रहे हैं। वंचित समाज के वास्तविक और अभूतपूर्व जागरण के रूप में फैल रहा दलित साहित्य आज के समय की निर्मम सच्चाई है। दलित साहित्य की विभिन्न विधाओं-कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, आत्मकथा इत्यादि में अस्पृश्य वर्ग के साथ हजारों वर्षों के भेदभाव, अमानवीय यंत्रणायें, अपमान, सामाजिक बहिष्कार और जीविका के साधनों से वंचित रखने की पीड़ा को मुख्य वर्ण्य विषय बनाया गया है जिनमें दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथायें कई दृष्टियों से विशिष्ट हैं क्योंकि ये आत्मकथायें जातिगत तिरस्कार, अपमान, शारीरिक और मानसिक शोषण, भूख और गरीबी, अशिक्षा और बेरोजगारी, साहित्यिक क्षेत्र में हुए अन्याय इत्यादि के चित्रण की बानगी हैं।

साहित्य में आत्मकथा लेखन पुरानी, निर्मम और कठोर विधा है। एक तरह से कहें तो ''आत्मकथा आधुनिक साहित्य की एक बेहद जटिल और जोखिम भरी विधा है। अन्य विधाओं से अलग इसकी अपनी विशिष्ट पहचान और कसौटी है।''[1] हिन्दी में अनेक आत्मकथायें लिखी जा चुकी हैं। सवर्ण वर्ग के जिन लेखकों ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया, उन लोगों के लिए यह कोई जोखिम भरा कार्य नहीं था, बल्कि इन लेखकों ने अपनी विभिन्न अवस्थाओं के अनुभवों को साहित्यिकता का जामा पहना कर प्रस्तुत किया तथा इस पर वे स्वयं को आनंदित और गौरवान्वित महसूस करते रहे।

वैयक्तिक जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे प्रबल माध्यम आत्मकथा विधा रही है। 'स्व' की अनुभूति, आत्मकथा के माध्यम से प्रकट होती है। यह रचनाकार के व्यक्तित्व और उसके समाज के व्यक्तित्व के बीच लगाव और तनाव की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में सम्भव होती है। यह किसी भी आत्मकथाकार की सच्ची कथा या कहानी होती है। ''दरअसल आत्मकथा एक ऐसी विधा है, जो न सिर्फ सत्य कथन की माँग करती है बल्कि उसका संस्कार भी देती है। ऐन जीवन व्यवहार में अपनी सोच और संवेदना को सही दिशा देने के लिए हमें जिस

आत्मालोचन की सख्त जरूरत होती है, आत्मकथा उसी के मुकाम पर हमें ले जाकर खड़ा करती है।''[2] हिन्दी में ब्रजभाषा में 1641 ई. में ही बनारसीदास जैन ने 'अर्द्धकथानक' (पद्यात्मक आत्मकथा) लिखी थी, जो हिन्दी की सबसे पहली आत्मकथा के रूप में समादृत है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन् 1641 से लेकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध यानी भारतेन्दु युग तक के लगभग दो-ढाई सौ वर्षों के फासिले में एक भी आत्मकथा नहीं मिलती। आधुनिक हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लेखन की शुरुआत भारतेन्दु युग से होती है जिनमें डॉ. श्यामसुन्दर दास की आत्मकथा (मेरी आत्मकहानी-1941 ई.) हिन्दी की पहली प्रसिद्ध आत्मकथा है। वर्तमान समय में आत्मकथा लेखन के आयाम बहुत विस्तृत होते गये हैं, जिनमें दलित आत्मकथाओं का विशिष्ट महत्व है।

देश में जिस समय से समाज को जातियों एवं श्रेणियों में बाँटा गया, उस समय से ही जाति व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर आने वाला समाज उस दंश को झेलने के लिए विवश हुआ, जिसका इतिहास अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न और शोषण आदि से भरा पड़ा है। शूद्र का जीवन अन्य लोगों द्वारा बनाये गये नियमों से संचालित होता रहा। वेद, पुराण, धर्म आदि में स्वर्ग एवं नरक की बात कही गयी, पर शूद्र के लिए यह संसार किसी नरक से बढ़कर था। बिना किसी बुरे कर्म के ही उसे मानव समाज से अलग मानते हुए उसकी छाया को भी पाप समझा जाने लगा। किन्तु समय का चक्र बदलते देर नहीं लगती। मानव समाज उस स्थान पर आकर खड़ा हुआ जहाँ पर शूद्रों, दलितों एवं पिछड़ों को भी शिक्षा प्राप्त करने के अवसर मिले। इस युग में आकर जिन मुट्ठी भर लोगों को कड़े संघर्ष के बाद शिक्षा प्राप्त हुई, उससे उनके भीतर अपने अस्तित्व को लेकर एक नवीन चेतना का उदय हुआ। यह चेतना राख में पड़ी चिंगारी की तरह सुषुप्तावस्था में थी जो आधुनिक काल में आकर भभक उठी। दलित साहित्य का उद्भव शिक्षा के द्वारा उत्पन्न इसी मानसिक चेतना का परिणाम था। बुद्ध, मार्क्स, डॉ. अम्बेडकर ने दलितों एवं शोषितों में एक नवीन चेतना का संचार किया। इनकी विचारधाराओं पर ही दलित साहित्य की नींव पड़ी। दलित साहित्य क्रांति एवं विद्रोह का साहित्य है। वह पुराने साहित्यिक मूल्यों को खारिज करता है तथा साहित्य के नये पैमाने को स्वयं गढ़ता है। प्रतिरोध की संस्कृति के निर्माण का सशक्त उदाहरण दलित साहित्य है। दलित साहित्य के संदर्भ में यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि आत्मकथा लेखन ने दलित साहित्य के विकास को नई ऊँचाइयाँ प्रदान की हैं। दलित आत्मकथायें दलितों के शोषित एवं दमित मन के दर्द की गवाह हैं। साहित्य में सदियों से उपेक्षित दलितों ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से दलित एवं गैर दलित (सवर्ण) समाज के अन्तर को बखूबी स्पष्ट किया है। ''दरअसल आत्मकथा मनुष्य के अन्तःजगत और बाह्य-जगत के और उनके बीच के सम्बन्धों के सत्य के अनुभव, अभिव्यक्ति और अन्वेषण की विधा है। जीवन-सत्य के विकास में वह योगदान करती है, उसकी बाधा नहीं बनती। अपने सच को सामने लाकर सच की सामाजिक प्रक्रिया को वह जबर्दस्त

ढंग से प्रोत्साहित करती है।''[3] कहना न होगा कि दलित आत्मकथायें दलित लेखकों के अदम्य संघर्ष के साथ जीवन को आगे बढ़ाने का संदेश देती हैं, क्योंकि दलित आत्मकथाकार यह बताना चाहता है कि जो नारकीय दासतापूर्ण जीवन हमें मिला, उसमें व्यक्ति विशेष का अपराध नहीं है। दोषी है तो वर्णवादी व्यवस्था, जिसने अपने जैसे दूसरे मानव समूह को विभिन्न जातियों के खांचे में डालकर उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया। शिक्षा, साहित्य और भूमि-भवन आदि साधनों से वंचित कर तथा विकास के मार्गों से काटकर यथास्थिति में रहने को मजबूर किया, जिसका कारण पूर्व जन्म नहीं है, बल्कि पक्षपात पूर्ण सामाजिक व्यवस्था है।

हिन्दी में दलित आत्मकथा लेखन के विशिष्ट मायने हैं, जिसके लिए दलित, दलित साहित्य और गैर दलित (सवर्ण) साहित्य को समझना आवश्यक है। वस्तुतः जिसका दलन और दमन हुआ है, वही दलित है। ''दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गन्दे काम करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया है और जिस पर सवर्णो ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है और इसके अन्तर्गत वही जातियाँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।''[4] जहाँ तक दलित साहित्य का प्रश्न है तो कहा जा सकता है कि समाज में दलित वर्ग जब अपनी रचनात्मक क्षमताओं का उपयोग करते हुए, साहित्य की रचना करता है तो उसे ही दलित साहित्य कहते हैं। दलित साहित्य सही मायनों में वह साहित्य है, जिसे दलितों ने अपने ज्ञान, अपने अनुभव, अपनी कठिनाईयों और पीड़ा के आधार पर रचा है। वस्तुतः दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को वाणी दी है। जीवन संघर्ष में दलितों द्वारा भोगे गये यथार्थ की अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य है। ''वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है।''[5] अर्थात ''दलितों द्वारा लिखा गया ऐसा साहित्य जो उन्हें अपना दमन और शोषण करने वाले के विरुद्ध संघर्ष के लिए प्रेरित करे। उनके अन्दर सम्मान और स्वाभिमान से जीने की भावना पैदा करे। भाग्य, भगवान, पुनर्जन्म, परलोक आदि में विश्वास की बजाय वैज्ञानिक सोच का विकास करे। वर्ण-व्यवस्था सहित उन तमाम शोषण मूलक व्यवस्थाओं का विरोध करने की सीख दे, जो असमानता, अन्याय और अमानवीयता की जनक या पोषक हैं।''[6] यहीं यह भी उल्लेखनीय है कि दलित समाज में जन्मे साहित्यकारों द्वारा दलित विषयों पर रचा गया साहित्य, गैर दलित (सवर्ण) साहित्यकारों से अधिक गहरा एवं संवदेनशील माना गया है जबकि गैर दलित लेखकों का सहानुभूतिपरक साहित्य मात्र सतही माना गया है। ''दलित साहित्य अपमान, शोषण और अपमान की प्रतिक्रिया की दर्द भरी और रोषपूर्ण अभिव्यक्ति है। इसमें सर्वाधिक बल सामाजिक विषमता की खाइयों को पाटने पर दिया जाता है। इसलिए यह सामाजिक समता का साहित्य है।''[7] कहना न होगा कि दलित साहित्यकारों की आत्मकथायें इसी सामाजिक विषमता के चित्रण का उदाहरण हैं और इसमें कोई

संदेह नहीं कि हिन्दी की दलित आत्मकथायें, दलित साहित्य की श्रेष्ठ उपलब्धि हैं। दलितों की आत्मकथाओं के आ जाने से, साहित्य में एक हलचल सी पैदा हो गयी है। हिन्दी की दलित आत्मकथाओं के लेखन के क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

कहते हैं साहित्य समाज का दर्पण होता है, समाज के दुःख पीड़ा की अभिव्यक्ति होता है और स्वभावतः प्रगतिशील एवं मानवतावादी होता है लेकिन यह बिल्कुल सच है कि समाज की लगभग आधी आबादी की वास्तविकता, साहित्य में महत्त्वहीन रही। सवर्ण साहित्यकारों में इस वर्ग के प्रति उपेक्षा भाव ही रहा। लेकिन साहित्य ने जब करवट ली तो हिन्दी की पट्टी पर बहुत से दलित साहित्यकारों ने अपनी प्रभावशाली उपस्थिति दर्ज करायी, जिससे कि दलित और गैर दलित साहित्यकारों के दो वर्ग से हो गये। सदियों से वंचित और अपमानित वर्ग के साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं से भारतीय साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। जैसा कि ध्यातव्य है कि दलित साहित्य के क्षेत्र में दलित आत्मकथा लेखन की शुरुआत तो मराठी के लेखकों ने की, पर अब इसका धीरे-धीरे सभी भारतीय भाषाओं में विस्तार हो गया। मराठी भाषा के दलित साहित्य के उन्नयन में आत्मकथाओं का महत्व असंदिग्ध है। हिन्दी में दलित आत्मकथा-लेखन मराठी भाषा के आत्मकथा लेखन और उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका से बेहद प्रभावित है। इसके बावजूद हिन्दी में जो भी दलित आत्मकथायें प्रकाशित हुई हैं, मुख्यधारा के साहित्यिक समाज द्वारा उनका स्वागत किया जा रहा है और आलोचना एवं विमर्श की कसौटी पर भरपूर सराहना मिल रही है। हिन्दी समाज दलितों की आत्मकथाओं को हाथों-हाथ ले रहा है। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' (भाग-1, 1995 ई., भाग-2, 2000 ई.), ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' (1997 ई.), डॉ. सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' (2002 ई.) और 'संतप्त' (2006 ई.), रूपनारायण सोनकर की 'नागफनी' (2007 ई.), श्यौराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (2009 ई.), डॉ. धर्मवीर की 'मेरी पत्नी और भेड़िया' (2010 ई.) और डॉ. तुलसीराम की 'मुर्दहिया' (2010 ई.) एवं 'मणिकर्णिका' (2014 ई.) इत्यादि आत्मकथायें इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा के दोनों भागों में अपने अनुभवों के माध्यम से दलितों के आर्थिक व सामाजिक शोषण के विभिन्न रूपों को उद्घाटित किया है। इनकी आत्मकथा में दलित जीवन का यथार्थ पूरी तरह से चित्रित है। नैमिशराय जी ने दलित जीवन की वास्तविकता को अपनी आत्मकथा में प्याज के छिलके की तरह परत-दर-परत उतारा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा में दलित उत्पीड़न की प्रक्रियाओं को उद्घाटित किया गया है। इसमें ब्राह्मणवादी मोर्चेबन्दी से बचने और बचकर अपना रास्ता बनाने तथा इसके विरुद्ध संघर्ष के ज़ज्बे को वाणी दी गई है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर कड़ा प्रहार किया गया है तथा दलित समाज के संघर्ष की कथा को प्रस्तुत किया गया है। डॉ. सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा में यह खुलासा किया है कि सदियों से ब्राह्मणवादी मानसिकता से तिरस्कृत, पीड़ित और संतप्त दलित समाज आज स्वयं उसी मानसिकता का

शिकार है। यह आत्मकथा समाज में व्याप्त जाति आधारित ऊँच-नीच, भेदभाव, शोषण व तिरस्कार को उघाड़ती है। संतप्त और तिरस्कृत-आत्मकथाओं के संदर्भ में यह कथन कितना प्रासंगिक है कि ''सच पूछिए तो ये दोनों आत्मकथायें जुड़वा हैं। तिरस्कृत की पीड़ा महसूस करनी हो तो 'संतप्त' पढ़िए और उसकी वजहें जाननी हों तो 'तिरस्कृत' पढ़िए। ईमानदारी दोनों में है लेकिन यदि साहस आत्मकथा की बुनियादी शर्त हो तो वह सिर्फ संतप्त में है और दुःसाहस की हद तक। इस अर्थ में यह हिन्दी की अकेली, बेबाक, बेजोड़ एवं बोल्ड आत्मकथा कही जायेगी।''[8] रूपनारायण सोनकर की आत्मकथा दलित-सवर्ण संघर्ष के माध्यम से उत्पीड़न एवं शोषण के खिलाफ एक बुलन्द आवाज उठाती है। श्यौराज सिंह बेचैन ने अपनी आत्मकथा में बचपन की उन घटनाओं का प्रमुखता से उल्लेख किया है जिसके कारण उसे बालश्रम के लिए विवश होना पड़ा और उसका बचपन छिन गया। डॉ. धर्मवीर की आत्मकथा अन्य आत्मकथाओं से हटकर है। इसमें मुख्य रूप से जारकर्म की समस्या को उठाया गया है। डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' दलित आत्मकथा लेखन के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखती है। एक तरह से यह दलित आत्मकथा लेखन की दूसरी धारा है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अन्य आत्मकथाओं की तरह दूसरे व्यक्तियों या सामाजिक व्यवस्थाओं पर आक्षेप नहीं लगाती बल्कि दलित समाज के परिवेश को उजागर करती है। 'मुर्दहिया' अद्‌भुत जिजीविषा की आत्मकथा है। सभी विषम परिस्थितियों से लड़कर उठ खड़े होने की विलक्षण कहानी है- 'मुर्दहिया'। यह एक लोकायन भी है। डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा का दूसरा भाग है 'मणिकर्णिका' (2014)। इसमें लेखक द्वारा शिक्षा के लिए किये गये संघर्ष का वर्णन है अर्थात 'मुर्दहिया' में जो विचार सुप्त अवस्था में थे, वे 'मणिकर्णिका' में विकसित हुए। इसे लेखक ने औपन्यासिक कलेवर प्रदान किया है जिससे आत्मकथा लेखन की यह प्रविधि दलित आत्मकथा लेखन को एक नया आयाम देती है।

हिन्दी दलित साहित्य में इतनी क्रांति व चेतना के बाद भी महिलाओं की आत्मकथा न के बराबर है। कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' (1999 ई.) एवं सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिंकजे का दर्द' (2011 ई.) कुछ आश्वस्तिदायक जरूर हैं। 'दोहरा अभिशाप' पहली दलित स्त्री आत्मकथा है। यह आत्मकथा भारतीय समाज में स्त्रियों की आजादी का बिगुल बनकर उभरी है। 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा दलित समाज की उपेक्षित स्त्रियों की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करती है।

वस्तुतः ''दलित आत्मकथायें केवल उनके लेखकों के जीवन के तथ्यों-सत्यों, घटनाओं का ब्यौरा देने वाली रचनायें नहीं हैं, बल्कि यह भारतीय समाज और विशेषकर हिन्दी भाषी क्षेत्र के हिन्दू समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, जातिगत पूर्वाग्रह एवं घृणा, हिंसा को उद्‌घाटित करने वाली रचनायें हैं।''[9] क्या यह सही नहीं है कि जब दलितों ने अपनी आत्मकथाओं में अपनी पीड़ा को, सवर्णों की दलितों के प्रति घृणा और पूर्वाग्रहों को अभिव्यक्त करना शुरू किया तो उन पर कभी

जातिवाद को बढ़ावा देने का, तो कभी अश्लीलता का आरोप लगाया गया। लेकिन आत्मकथाओं में व्यक्त घटनाओं पर परदा नहीं डाला जा सकता। वह तो एक शपथ पत्र तरह होती हैं, जिसमें पूरी ईमानदारी से घटित हुई घटनायें साहसिकता के साथ व्यक्त की जाती हैं। फिर भी दलित लेखकों के आत्मकथा लिखने के खतरे बहुत हैं। तब यह सवाल उठना अवश्यम्भावी है कि ऐसे जोखिमपूर्ण कार्य को ये लोग कर क्यों रहे हैं? जब 'अक्करमाशी' - आत्मकथा के लेखक शरणकुमार लिम्बाले की पत्नी उनसे प्रश्न करती हैं कि- ''यह सब लिखने से क्या फायदा? तुम क्यों लिखते हो? कौन अपनायेगा हमारे बच्चों को?''[10] या ओमप्रकाश वाल्मीकि की पत्नी उनके 'सरनेम' को लेकर कहती हैं कि, ''हमारे कोई बच्चा होता तो मैं इनका सरनेम जरूर बदलवा देती।''[11] तब यह समस्या कितनी गंभीर है- यह सोचने की जरूरत है। इसी समस्या को आत्मकथा लेखन के संकट के तौर पर देखते हुए मोहन दास नैमिशराय ने स्पष्ट किया है कि, ''पर दलित आत्मकथा लिखने के तो दोहरे संकट हैं। दलित कथाकार को पहले स्वयं अपने समाज/जाति/परिवार और रिश्तेदारों से जूझना पड़ता है। बाद में सवर्ण जाति के समीक्षकों से भी उलझना जरूरी हो जाता है जो शालीनता तथा अश्लीलता की विपरीत शब्दावलियों के बहाने ऐसे कथाकारों को कोसना कतई नहीं भूलता।''[12]

फिर भी इतने भारी संकट के बावजूद हिन्दी में दलित आत्मकथायें लिखी जा रही हैं। वास्तव में पूरा दलित लेखन ही आत्मकथा प्रधान बन चुका है क्योंकि ये आत्मकथायें तमाम विरोधी परिस्थितियों में अदम्य जिजीविषा और जीवन संघर्ष की झलक देती हैं। दलित जीवन की ऐतिहासिक त्रासदी को व्यक्त करने वाली दलित आत्मकथायें दलित समाज के दुःख, दर्द, पीड़ा, शोषण इत्यादि के ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। ये आत्मकथायें किसी व्यक्ति विशेष के जीवन की घटनाओं का विवरण वर्णन मात्र नहीं हैं, दलित जीवन का यथातथ्य चित्रण मात्र नहीं हैं बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि से अनुभवों व घटनाओं का सृजनात्मक संयोजन हैं। इन अनुभवों को लिखना व पढ़ना सृजन की पीड़ा से आबद्ध है। वंचितों एवं दलितों की सच्चाई को व्यक्त करती इनकी आत्मकथायें केवल आत्मकथ्य मात्र नहीं बल्कि मानवता के निर्माण में रची गई कथायें हैं। इन आत्मकथाओं ने साहित्यिक जगत में खलबली मचाने में कोई कोर कसर बाकी नहीं रखी है। दलित और गैर दलित (सवर्ण) साहित्य के ऊपर बहस का पटाक्षेप नहीं हो पा रहा है। लेकिन यह अक्षरशः सही है कि दलित आत्मकथायें समय-समाज की उस घड़ी की तरह हैं जिनसे यह सहज ढंग से पता लगाया जा सकता है कि समाज वैचारिक रूप से अभी कैसे परिवर्तित हो रहा है!

दलित आत्मकथा लेखन ने दलित साहित्य को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया है। दलित आत्मकथाओं की संस्कृति पारम्परिक आत्मकथा की संस्कृति से भिन्न रही है। यथार्थ का बेलाग वर्णन, शब्दों का खुला प्रयोग, आक्रामक रूख, दलित संस्कृति का अंग है जो साहित्य

में प्रतिफलित हुआ है। दलित आत्मकथायें दलित समाज के यथार्थ अंकन का खुला मंच है। दलित आत्मकथाकारों की सक्रियता से ही दलित विमर्श साहित्य का मुख्य विमर्श बनकर उभरा है। एक वैचारिक चिंतन के वातावरण का निर्माण साहित्य के क्षेत्र में दलित आत्मकथाओं ने किया है।

मराठी की 'अक्करमाशी' हो या हिन्दी की 'अपने-अपने पिंजरे' सभी आत्मकथाओं में सड़ी गली परम्पराओं/प्रथाओं को ध्वस्त कर नयी व्यवस्था, नया समाज बनाने की बात कही गई है। सवर्ण कथाकारों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं और दलित आत्मकथाओं में जमीन-आसमान का फर्क है क्योंकि उनके अपने-अपने सवाल हैं जिनका उत्तर भी उनका अपना-अपना समाज देता है। इसीलिए यह मानना पड़ेगा कि दलित आत्मकथाओं ने सवर्ण समाज के ठहरे हुए पानी को हिला जरूर दिया है। दलित आत्मकथाओं ने भारतीय साहित्य को नई दिशा दी है। साहित्य के क्षेत्र में इन आत्मकथाओं के पदार्पण से बहुत से मिथक व भ्रम टूट गये हैं। दलितों द्वारा निरन्तर आत्मकथा सृजन हो रहा है। संभव है भविष्य में और भी आत्मकथायें आयेंगी।

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)
मो. 09452865313

सन्दर्भ -

1. *आत्मकथा की संस्कृति - पंकज चतुर्वेदी, वाणी प्रकाशन, 2003, पृष्ठ 18*
2. *वही, पृष्ठ 16-17*
3. *वही, पृष्ठ 36*
4. *नया ज्ञानोदय, दिसम्बर 2006, कंवल भारती का कथन, पृष्ठ 18*
5. *वही, पृष्ठ 18*
6. *वाङ्मय, जनवरी-मार्च 2006, दलित विशेषांक, जयप्रकाश कर्दन का कथन (एक साक्षात्कार में), पृष्ठ 144*
7. *वही, पृष्ठ 11, माताप्रसाद का कथन*
8. *अपेक्षा पत्रिका, नई दिल्ली, जुलाई-दिसम्बर 2010, काशीनाथ सिंह का कथन, पृष्ठ 82*
9. *दलित आत्मकथायें : अनुभव से चिंतन - सुभाषचन्द्र 2006, पृष्ठ9*
10. *अक्करमाशी - शरणकुमार लिम्बाले, पृष्ठ 9*
11. *जूठन - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ 151*
12. *उत्तरप्रदेश - सितम्बर-अक्टूबर 2002, पृष्ठ 24*

भ्रष्टाचार निवारणार्थ कौटिल्य के विचार

–राघवेन्द्र प्रताप सिंह

आज सम्पूर्ण भारत भ्रष्टाचार रूपी कैंसर से पीड़ित है। दूसरे शब्दों में यदि यह कहा जाय कि न केवल भारत की वरन यह एक विश्वव्यापी समस्या है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ऐसा नहीं है कि यह केवल हमारे अपने युग की समस्या है अपितु इतिहास का कोई भी कालखण्ड इससे अछूता नहीं रहा है। न्यूनाधिक रूप में यह सदैव विद्यमान रही है। हम अपने इस आलेख में भारतीय मेधा के सर्वाधिक प्रतिभाशाली प्रतिनिधि कौटिल्य द्वारा बतलायी गयी भ्रष्टाचार निवारणार्थ युक्तियों की व्याख्या नवीन एवं समीचीन अर्थों में करने का प्रयास करेंगे।

कौटिल्ययुगीन शासन प्रणाली के मंहगे होते जाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। इस व्यवस्था में सबसे निचले स्तर पर कार्य करने वालों को अत्यन्त नाममात्र का वेतन मिलना सामान्य प्रचलित व्यवस्था है, जबकि उच्च पद पर आसीन लोगों का वेतन अधिक रहता है। अर्थशास्त्र में राजकर्मचारियों की जो लम्बी सूची प्राप्त होती है उससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनके वेतन भत्ते देने में राज्य पर कितना अधिक वित्तीय बोझ पड़ता होगा? कौटिल्य स्वयं कहते हैं कि राज्य की सकल आय का एक चौथाई भाग से अधिक धन राज्य कर्मचारियों एवं अधिकारियों के वेतन पर खर्च नहीं करना चाहिए। राज कर्मचारी केवल वेतन से ही संतुष्ट नहीं रहते। वे राजकीय वित्त में गड़बड़ी करने के साथ-साथ प्रजाजनों के आर्थिक शोषण का कोई भी अवसर नहीं चूकते हैं। अर्थशास्त्र के साथ-साथ अन्य समकालीन साहित्य एवं अभिलेख भी तत्कालीन प्रशासन में व्याप्त विकृति एवं भ्रष्टाचार को उद्घाटित करते हैं। पहले इन कारकों की समीक्षा करना उचित प्रतीत होता है जिसमें भ्रष्टाचार अथवा प्रशासन में व्याप्त विभिन्न प्रकार की विकृतियाँ दृष्टिगत होती हों।

कौटिल्य का कहना है कि जिन अधिकारियों के हाथों में राज्य की सम्पत्ति संग्रह तथा व्यय के लिए आती है, वे उसका अपहरण और मनमानी करते हैं। इनके द्वारा हेराफेरी के 40 प्रकारों की सूची अर्थशास्त्र में प्राप्त होती है। जो निम्नलिखित हैं–

'पहली फसल में प्राप्त धन को अगली फसल के समय लिखना, दूसरी फसल के समय मिलने वाला धन पहली फसल के समय लिख देना, राज-कर को वसूल ही न करना, राजकर से मुक्त प्रजाजनों से भी धोखा देकर या दबाब डालकर धन वसूल करना, जो वसूल हो गया है उसे पुस्तक में लिखना, थोड़ा वसूल हुआ हो परन्तु पूरा लिख लेना, पूरा वसूल हो गया हो परन्तु कम करके लिखना, एक खाते (मद) का धन दूसरे खाते में जमा कर देना, देय धन को

न देना, अदेय को दे देना, समय पर न देना, असमय देना, थोड़ा देकर अधिक लिखना, अधिक देकर कम लिखना, अन्य वस्तु देकर दूसरी लिख देना, एक को देकर दूसरे का नाम लिखना, कोष में धन जमा करके भी पुस्तक में दर्ज न करना, बहुत से व्यक्तियों से सामूहिक रूप में लिया जाने वाला धन पृथक-पृथक व्यक्तियों से वसूल करना, पृथक-पृथक व्यक्तियों से लिया जाने वाला धन सामूहिक रूप में लेना, बहुमूल्य माल का अल्पमूल्य के माल से परिवर्तित कर देना, अल्पमूल्य का बहुमूल्य से बदल देना, बाजार में वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देना अथवा वस्तुओं का मूल्य गिरा देना, वेतन के दिन बढ़ाकर लिख देना, वेतन के दिन घटाकर लिखना और मजदूरी काट लेना, मलमास जिस वर्ष में न हो मलमास लिखकर कोष से अधिक वेतन निकाल लेना, महीने के दिन घटा-बढ़ाकर देना, जिन कर्मचारियों ने कभी काम न किया हो उनके नाम लिखकर वेतन निकाल लेना, एक आयमुख (मद) से हुई आय को दूसरे आयमुख में लिख लेना, धर्म कार्यों के लिए नियत अनुदान का एक अंश स्वयं हड़प लेना, कुटिल उपायों से अतिरिक्त धन का संग्रह करना, समुदाय में से किन्हीं एक दो को छोड़कर शेष से पूरा धन ले लेना, किन्हीं मान्य वर्णों को कर से मुक्त करने का बहाना करके पुस्तक में आय न लिखना और स्वयं ले लेना, जिन स्थानों पर राजकीय नियंत्रण कम हो वहाँ वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देना, तोल के बातों से गड़बड़ी करवा देना, मापने के साधनों में मनमानी करवाना, नापने के पात्रों में छोटे-बड़े का हेर-फेर करवा देना आदि।'[1]

इस काल की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि जिस अधिकारी के सम्बन्ध में भ्रष्टाचार की शिकायत आती थी उसकी देखभाल करना प्रशासन का पहला कार्य समझ जाता था। इसमें खजांची (निधायक), रजिस्ट्रार (निबन्धक), धन जमा करने वाले अधिकारी (प्रतिग्रागि) धन दिलाने वाले (दायक) और लेने वाले (पायक) आदि सभी अधिकारियों से पूछताछ की जाती थी। यदि ये सभी गबन में सम्मिलित होते थे तो समान दण्ड का भागी समझे जाते थे।[2] ऐसे अधिकारियों के सम्बन्ध में यह घोषणा कर दी जाती थी कि जो भी व्यक्ति उनसे पीड़ित हो वह अपनी शिकायत खुलकर रखे और जो ऐसा करता था उसे दुगुनी रकम दिलवायी जाती थी। यदि किसी कर्मचारी पर एक ही समय में एक से अधिक अभियोग चलाये जा रहे हों; उस अवस्था में किसी भी अभियोग की सिद्धि पर सभी अभियोग सिद्ध मानकर तदनुसार दण्डित किया जाता था। स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का उत्तरदायित्व अभियुक्त का था। इसका सैद्धान्तिक आधार यही था कि तत्कालीन शासन प्रणाली वित्त कार्यों में लगे प्रत्येक अधिकारी को बेईमान समझती थी, यदि वह इसके विपरीत सिद्ध न हो गया हो। बहुत से धन के अपहरण का अभियोग लगने पर यदि थोड़े से धन के अपहरण का अभियोग सिद्ध हो जाता था तो शेष धन का अपहरण का अभियोग भी उस पर स्वतः सिद्ध समझा जाता था। भ्रष्टाचार के आरोप लगाने वाले व्यक्तियों को; भ्रष्टाचार सिद्ध होने पर राज्य द्वारा पुरस्कृत किया जाता था। भ्रष्टाचारी पुरुष के भ्रष्टाचार की प्राथमिक परीक्षा में यदि वह अपराधी सिद्ध हो जाता था और फिर सूचक अभियोग से पृथक होने की इच्छा प्रकट करता था तो उसे ऐसा करने की छूट मिल

जाती थी। तब राज्य ही अपनी ओर से वह अभियोग चलाता था। परन्तु यदि अभियुक्त से रिश्वत लेकर वह सही गवाही नहीं देता था तो उसे राज्य द्वारा दण्डित किया जाता था।[3]

मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों में एक कारण प्रान्तीय सरकारों के अत्याचार को माना जाता है। जिसका आधार दिव्यावदान में दी गई दो कथायें हैं, जो तक्षशिला की प्रजा के मंत्रियों के विद्रोह के संबंध में है। मंत्रियों का यह अत्याचार आर्थिक भी हो सकता है। विन्दुसार के समय हुए विद्रोह को दबाने के लिए जब अशोक तक्षशिला पहुंचा तब लोगों ने कहा हम न तो कुमार के विरुद्ध हैं और न ही राजा विन्दुसार के, अपितु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं-

न वयं कुमारस्य विरुद्धम् नापि राज्ञः विन्दुसारस्य।
अपितु दुष्टामात्याः अस्माकं परिभवं करोति।।

एक कहानी अशोक के राजकाल में हुए विद्रोह के सम्बन्ध में है, जिसमें कहा गया है कि इस विद्रोह को दबाने के लिए अशोक ने कुणाल को भेजा था। जो भी हो अधिकारियों के अत्याचारों से जनता इतनी पीड़ित थी कि वह राजद्रोह के लिए तैयार हो गयी। अशोक अपने अभिलेखों में अधिकारियों को दौरा करने के लिए कहता है; साथ ही उसने अधिकारियों के स्थानान्तरण की परिपाटी चलायी।[4]

जहाँ तक कौटिल्य की बात है; उन्होंने सूक्ष्म से सूक्ष्म अवसरों का भी उद्घाटन किया है जिसमें राजकर्मचारियों द्वारा कदाचार करने की आशंका थी। जिसके सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है। यहाँ तक कि किसी अधिकारी की पदस्थापना से राज्य की आय घट जाती थी उसे राजकीय आय का भक्षक माना जाता था। उससे हानि का दुगुना हर्जाना (अत्यय) वसूल किया जाता था। परन्तु जिसकी नियुक्ति के उपरान्त राज्य की आय दुगुनी हो जाती थी उसे भी कौटिल्य राज्य का भक्षक मानते थे। किन्तु यदि वह पूरा धन राजकोष में जमा कर देता था तो उसकी राजभक्ति को देखते हुए मात्र चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता था। किन्तु यदि उसने अधिक संग्रह का कुछ भाग अपने घर में रख लिया तो उसे कड़ा दण्ड दिया जाता था।

जो अधिकारी नियत धनराशि को वर्ष भर में खर्च नहीं कर पाते थे, उन्हें दोषी माना जाता था। इसीलिए प्रत्येक अधिकारी को अपने कार्य की समाप्ति का विवरण राज्य को देना पड़ता था।[5]

अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण के नवें अध्याय में बड़े ही आलंकारिक रूप से कर्मचारियों के भ्रष्टाचार की बात कही गयी है—

यथा ह्यनास्वादयितुं न शक्यं
जिह्या तलस्थं मधु वा विषं वा।
अर्थस्तथा ह्यर्थचरेण राजः
स्वल्मोअप्यनास्वादयितुं न शक्यः।।
मत्स्या यथान्तः सलिले चरन्तो,
ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः।

मुक्तास्तथा कार्य विधौ नियुक्ता
ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः।।
अपिशक्या गतिर्ज्ञातुः
पततां रवे पत्रत्रिणाम्।
न तु प्रच्छन्न भावनां
युक्तानां चरतां गतिः।।

अर्थात् जैसे जीभ पर रखा रस इच्छा हो या ना हो, चखने में आ ही जाता है, इसी प्रकार राज्य के आर्थिक कार्यों में नियुक्त अधिकारी, इच्छा हो या ना हो, राजकोष का कुछ न कुछ तो अपहरण करते ही हैं।

जैसे पानी में घूमती-तैरती मछलियाँ कब पानी पीती है, पता नहीं चलता, इसी प्रकार उच्च सरकारी कर्मचारी कब और किस प्रकार धन खा जाते हैं, पता नहीं चलता।

आगे, आकाश में उड़ते पक्षियों की चाल का पता चल जाता है, परन्तु राजअधिकारियों के आचरण तथा मनोभावों का पता लगाना कठिन है।

अतएव, भ्रष्टाचारी अधिकारियों के प्रति राज्य का रुख बहुत कड़ा होता था और उन्हें तुरन्त निलम्बित करके पदावनत कर दिया जाता था।

राजकर्मचारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार की परिधि इतनी व्यापक है कि इससे भारतीय इतिहास का कोई भी कालखण्ड अछूता नहीं रहा है। कौटिल्य द्वारा निर्दिष्ट भ्रष्टाचार नियंत्रण के उपायों को कामन्दक एवं याज्ञवल्वय आदि ने भी स्वीकार किया है। कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित भ्रष्टाचार रोकने सम्बन्धी विचार आज भी उतने या उससे भी कहीं अधिक प्रासंगिक हैं जितना स्वयं कौटिल के समय थे; आवश्यकता इस बात की है कि नवीन परिस्थितियों में उनका प्रयोग नवीन दृष्टिकोण के साथ किया जाय।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
प्राचीन इतिहास विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
मो. 9479983878

सन्दर्भ -
1. *'कौटिलीय अर्थशास्त्र', देवदत्तशास्त्री, इलाहाबाद, 1957, पृ. 184-85*
2. *कौटल्य कालीन भारत, आचार्य दीपंकर, 2003, पृ. 204-205*
3. *निष्पत्तौ निक्षिपेद् वादमात्मानं वापहापयेत्।*
   अभियुक्तोपजापात्तु सूचको धमाप्नुयात्।।
   -अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अध्याय 8,
4. *अशोक डी.आर. भण्डारकर, नई दिल्ली, पृ. 285*
5. *आचार्य दीपंकर, वही, पृ. 201-202*

ग़ज़ल

—फिदा-उल-मुस्तफा फिदवी

तन्हाई में रात अक्सर किसकी पाजेब बजाती है
मिलन की आस बंधा कर जालिम बिरह का जहर पिलाती है।

रह रह कर यूँ हिलती है फूलों से लदी फंदी डाली
नाज व अदा से जैसे मुझको अपने पास बुलाती है।

उसे पकडना चाहूँ में नटखट बालक की तरह लेकिन
हाथ बढ़ाते ही फौरन चंचल तितली उड़ जाती है।

मन की आग बुझाने आई या भड़काने आई पवन
साँस के एकतारे पे न जाने ये किस के गुन गाती है।

जो तेरी आवाज के रसिया थे वो प्रेमी बिछड़ गए
कोयल अब क्यूँ अमराई में आकर शोर मचाती है।

सभा में सुध बुध खोकर अपना नाचने लगता है मन मोर
शहनाई की मधुर तान सोए अरमान जगाती है।

इस बस्ती में प्यार का मधुबन है किस ओर चलो देखें
खुशबू रात की रानी की किस के आँगन से आती है।

विभागाध्यक्ष
उर्दू एवं परसियन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
दूरभाष - (07582) 265806

दो कविताएँ

—रमेश दवे

कागज़ की मौत

बहुत खुश है
कागज़ —
अपनी मृत्यु पर
बहुत खुश हैं
पेड़
कागज की मृत्यु पर,
कितना कितना चीखें हैं
पेड़
कितनी-कितनी फड़फड़ाई हैं
पत्तियाँ —
पंख कटे पखेरुओं की तरह
किस कदर
उखड़ी पड़ी हैं जड़ें
अपनें पेड़पन की संस्कृति से
कितना रोया है सदियों तक
जंगल, कागज़ की खोज के बाद
अच्छा है
कागज़ मर रहा है
शब्द
अब नए ढंग से
जीना सीखेगा।

भाषा

भाषा
घर है मेरा
रहता ता-उम्र उसी में
छा रखी
व्याकरण ने छत
मात्राओं की वल्लियों पर
विराम चिह्नों के खंभों पर
शब्दों के सांकल-दरवाज़े
शब्दों के बीच
खाली जगह की खिड़कियाँ
वाक्यों की गुँज से गुंथी रस्सी से
बुन दी गई
खटिया भाषा की
कह रही भाषा
थक जाओ बहुत ज्यादा
लेट जाना इस खाट पर
मैं बन कर लोरी
दूँगी थपकी
आखिर मैं भी तो
माँ हूँ ना!

एस.एच. 8/19, सहयाद्री परिसर
दुष्यंत कुमार त्यागी मार्ग, भोपाल-462003
मो. 9406523071

चिमनी

—दिनेश अत्रि

टकटक...
वह आसमान में चमकते तारे निहारता है
तारे माँ के चेहरे पर पसीने की बूँदों से झलकते हैं

हर साँझ चिमनी जलती है...
और उसकी आँखों में रोशन हो उठता है माँ का चेहरा

वह माँ ढूँढता है—
खान नदी के बहते जल में
नौलखा बगीचे के झुरमुटों से छनकर आती धूपछाँव के बनते बिगड़ते अक्सों में
सुबह शाम में ढलते रंगों में
परिंदों की परवाज़ में
सिर पर टोकरी उठाए जा रही स्त्री की बिसूरती आँखों में
अच्छन मियाँ की चायदुकान की भट्टी में दहकते अँगारों की रोशनियों में
उषागंज और पारसी मोहल्ले के गलियों चौबारों में
भीड़ में, बियाबान में, भुतहा खंडहरों में
मदरसे में, सिलेट पट्टी में
अजान में, आयतों में, रामकथा में
मेंहदी महावर की खुशबुओं से लबरेज नई माँ की थपकियों में
दादा की चितवन में...

टकटक...
वह अपने दादा को निहारता है
उसे खुशबूदार पान से रचे दादा अच्छे लगते हैं
दादा की तरह वह भी पान खाएगा

उसे दादा की सफेद दाढ़ी पसंद है
बड़ा होकर वह भी सफेद दाढ़ी रखेगा
उसे दादा का चिमनी बनाना पसंद है
वह भी चिमनी बनाएगा दादा की तरह

टकटक...
वह दादा की उँगलियों के करतब देखता है
टीन का एक मामूली टुकड़ा आनन फ़ानन
चिमनी में बदल जाता है
जादू! उसके दादा जादूगर हैं
वह भी जादूगर बनेगा

दादा कहते हैं वह बहुत छोटा है
उसे सब्र करना चाहिए
घर में कुछ भी हो, सभी उसे सब्र रखने कहते हैं
यह सब्र क्या बला है?
जादू करने की कोई उम्र होती है भला?

एक शाम दादा गहरी नीद में बेसुध हैं
साँस की ढिबरी लय में थिरक रही है
आज उसने जम के दादा के हाथ पैर दबाए हैं
बाती नीद के तेल में लबालब डूबी है

और वह जाग रहा है, हमेशा से ज्यादा –
उसके दिमाग में खब्त सवार है
वह चिमनी बनाकर ही रहेगा
दबे पाँव वह दादा के 'कारखाने' में दाखिल होता है
इतना हौले से किवाड़ खोलता है कि किवाड़ खोलने की आवाज़
दादा के खर्राटों की रोशनी से धीमी रही आए
(आवाज और रोशनी इस समय उसके ज़ेहन में
एक ही वजूद के दो हिस्से हैं)

सब कुछ जाना पहचाना है, दादा के बैठने की जगह
सामने का ठीया, औजारों की अलमारी, दीवार पर टँगी
चिमनियाँ और कोने में रखी बेंच
यहीं बैठ वह दादा को जादूगरी करते देखता है
वह अलमारी खोलता है और दादा की तरह ठीए पर
करीने से जमाता है चिमनी बनाने के औजार

पर यह क्या हथौड़ा चल ही नहीं रहा?
दादा के हाथों में फूल की तरह लहराता हथौड़ा
इतना भारी कैसे हो गया?
उसने कतीरा उठाया
पूरी ताकत से वह दबा रहा है
पर टिन पर खराश तक नहीं
न टाँची से टिन टुँचा
न सुम्मी पर मुड़ा

दादा के पास, लगता है, दो किस्म के औज़ार हैं
काम करने के अलग, दिखाने के अलग

वह पसीने से लथपथ है
दादा सच कहते हैं वह अभी छोटा है
उसे सब्र करना चाहिए
मायूस वह अपने हाथों की तरफ देखता है
छोटे-छोटे मुलायम हाथ, छोटी पतली उँगलियाँ
सचमुच उसके हाथ दादा के हाथों से छोटे हैं
तो क्या सचमुच वह इन हाथों से चिमनी नहीं बना पाएगा?
उसकी पस्त निगाहें एकाएक दादा की पेंसिल पर जा टिकती हैं
यह वही पेंसिल है जिससे वह दादा के सामने बैठकर
कागज़ पर कुछ न कुछ उकेरा करता है

आहिस्ता आहिस्ता पेंसिल कागज पर रेंगने लगती है
अरे! हथौड़ा फूल की मानिंद हवा में लहरा रहा है
टिन कट रहा है

टिन मुड़ रहा है...
लो, काँच का लैम्प भी लग गया
ढिबरी में तेल भी भर गया
जल उठी बाती
लौ से फूट रही है रोशनी
हतप्रभ वह अपने हाथों की तरफ देखता है
उसे यकीन नहीं आ रहा ये वही
नन्ही पतली उँगलियों वाले हाथ हैं
कि उसने अभी अभी पेंसिल की नोक से जादू निकलते देखा है
कि पेंसिल की नोक ही छैनी है, हथौड़ा है
टीन का टुकड़ा, कतीरा, सुम्मी, काँच का लैम्प
चकरी, बाती, लौ और लौ से फूटता उजला
सभी कुछ वही है
अभिभूत और कृतज्ञ वह छाती से लगा लेता है पेंसिल का टुकड़ा

वह अपनी भर आई आँखें मिचमिचा कर देखता है
सचमुच उसकी चिमनी जल रही है
जलती हुई चिमनी वह दादा की चिमनियों के बीच
फ़क्र से लटका देता है
चिमनी की रोशनी में कारखाना एक रहस्य लोक की तरह
प्रकट हो रहा है
जैसे वह आकाश में चमकते तारे देख रहा है

टकटक..
तारे माँ के चेहरे पर पसीने की बूँदों से झलकते हैं

चिमनी जल रही है

(मकबूल फिदा हुसैन जीवनी से प्रेरित)

'हरे रम्मा',
मीनाक्षीपुरम्
पथरिया जाट, सागर (म.प्र.)
मो. 9425171769

दो कविताएँ

—पंकज चतुर्वेदी

प्रश्न

मैं उस शहर को जा रहा हूँ
जहाँ मैं नौकरी करता था
मैं उस शहर से आ रहा हूँ
जहाँ मैं नौकरी करता हूँ

भागती हुई ट्रेन में
उसने मुझसे पूछा :
आपका घर कहाँ है?

मैंने कहा :
गाँव में

इसके पहले कि मैं बताता
वह किस ज़िले का
कौन-सा गाँव है

सहसा एक प्रश्न
मुझे चुप कर गया :
घर वह मेरे जानने को
रह गया है
मानने को मुझे
क्या करना चाहिए?

सफ़र

खन्ना बंजारी और व्यौहारी
किन्हीं व्यक्तियों के
नाम या विशेषण नहीं
कटनी और सिंगरौली के बीच पड़नेवाले
रेलवे स्टेशन हैं
मुमकिन है ऐसे व्यक्ति कभी रहे हों
जगहें जिन्हें याद करती हैं

इसी तरह जुगमंदिर और वीर भारत
व्यक्ति हैं
किसी इमारत या मुल्क की
विशेषता बताते

वस्तुओं और व्यक्तियों का
एक-दूसरे में ढलता और बदलता
यह सफ़र है ज़िंदगी

आप किसी से मिलते हैं
तो कहीं पहुँचते हैं
और जहाँ पहुँचते हैं
वहाँ फिर किसी से मिलना चाहते हैं

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)-470003
मोबा.: 09425614005

दो कविताएँ

—नवीन कानगो

अख़बार

कितना कुछ गुज़रता है
मुझसे
रोज़ सुबह

ख़ुद से मिलने के लिए
बेचैनी से पन्ने पलटता हूँ

कहानियाँ, ख़बरें
सब के सब इश्तिहार

सच कहीं मौजूद है?
सियाही में या रंगीन तस्वीरों में
या इसके अलावा कहीं और
बग़ैर छपे .... दूर कहीं विलाप करता

फिर भी
अच्छी व्यवस्था है – कुल मिलाकर

एहसास

क्या वृक्ष सच में जानता है
कि उसमें ही
बहुत अंदर निहित है
एक पुष्प
जो समय आने पर
अनायास
फूट पड़ेगा
और चमत्कृत हो जाएगा सृजनकर्ता
और विस्मित नयनों से निहारेगा

यह सौंदर्य, यह सुरभि
मुझमें कहाँ छुपी थी
आह .... मैं नाहक़ उदास रहा बरसों

विभागाध्यक्ष
सूक्ष्म जीव विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)-470003
मोबा.: 9425635736

जीवन एक कोलाहल

—सुधीर नागेश लिमये

कैसा कोलाहल जीवन है,
स्वर की पहचान नहीं।
चीख रहा है मानव
अविरल,
पर शब्द का अभास नहीं।
बचपन की स्वप्निल आँखों में
जीवन की जिज्ञासा थी,
कर्म की बलिवेदी
और, स्वयं की आहुति
यही एक परिभाषा थी।
अर्थ धर्म की चकाचौंध में
स्वप्न कैसे काफूर हुए,
सब पाने की लय में
सब छूट गए,
सब सम्बन्ध कितने दूर हुए।
मैं चला चलता रहा,
दूरियाँ तय हुईं, पर मैं ठहरा रहा।
कर्त्तव्य मान सब करता रहा,
अधिकार मान सब बतलाते।
देह-धर्म की सौगात सम्पन्न हुई
रह जायेंगी सिर्फ बातें।
थक चुके हैं चलते-चलते
कोई तो आवाज दे
सोच न दे, साज भी न दे
पर...अब कोई एक नया राग दे।

प्रोफेसर, रसायन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 09424451130

चहुँ दिसि पूरब

–प्रतिभा पाण्डेय

संग सहेली मैं सदा, करती रहती बात।
जिसका विषय प्रधान था, घर, मंदिर अरु तात।।

बातें करते देखकर, तात का मुँह हुआ लाल।
पूछा क्या लिक्खा पढ़ा, जो चलीं बतकही चाल।।

मैं सकुचाई सखी ढिंग, क्या दूँ तात जवाब।
इतने में अम्मा दिखीं, पानी लिये बेताब।।

बोली मैं अम्मा सुनो, हरदम काम ही काम।
सूरज भी पश्चिम गया, करने को विश्राम।।

माँ बोली बिटिया सुनो, सौ बातन की बात।
मेरे सूरज तात तव, कभी न पश्चिम जात।।

मुख मंडल अरुणिम लिये, हरते हर संताप।
पूरब दिसि चहुँ ओर है, हर क्षण रहे प्रभात।।

मैंने सोचा यही है, प्रकृति-पुरुष संजोग।
शाश्वत है इसकी नियति, किंचित नहीं वियोग।।

गोल धरा के कारने, सूरज नहीं दिखाय।
रहता ये हरदम उगा, दिन नहिं डूबत भाय।।

प्रोफेसर
प्रौढ़, सतत् शिक्षा एवं विस्तार विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9406916643

दानवीर गौर की महिमा

—संतोष सोहगौरा

कर्म-योग पुष्पित जब ज्ञानी मति होती है,
श्रम से सुसज्जित निधि तब इन्द्रधनुषी होती है।

सच्चे संकल्पों की जब सुधि प्रशस्त होती है,
त्याग की, तपस्या की ध्वजा धवल होती है।

आत्मसात् मानवता रचना जब कर लेती,
ऐसी आख्यायिका कालजयी तब होती है।

देश में विदेश में गूँजती प्रतिष्ठा तब,
हरीसिंह गौर सदृश सुलझी मति होती है।

न्यायविद्, देशभक्त, धन्य शौर्य सुकृति है,
अनुदिन जो गौर का महाकाव्य नित रचती है।

दानवीर गौर की ऐसी महिमा हो जब,
सचमुच जो सागर को सागर बनाती है।

सुन्दर सद्भावों की सृष्टि जहाँ होती है,
वही सोच सच है कि देवपगा होती है।

डॉ. श्री गौर की माननीय आस्था है,
देश में विदेश में चर्चित यही गाथा है।

उप कुलसचिव
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)
मो. 9479398600

वृत्तचित्र : यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति

—पंकज तिवारी

एक ऐसा समय जो कि दृश्य माध्यमों की अति का है।
एक ऐसा समय जो हर पलछिन को दृश्य बना रहा है।
एक ऐसा समय जबकि आप सदैव कैमरे की निगरानी में हैं।
एक ऐसा समय जबकि हमेशा आपके हाथ में कैमरा है।

ऐसे जोखिम भरे समय में घटना को, व्यक्ति को और क्रियाकलापों को दृश्य बनाने वाली वृत्तचित्रों की यह कला व्यापक जान पड़ती है।

जीवन के यथार्थ से परत दर परत सच्चाई उघाड़ने का कार्य वृत्तचित्रों में निरंतर होता रहा है वृत्तचित्रों में मानवीय संघर्ष का ब्यौरा है। वृत्तचित्र बिना लाग लपेट के वास्तविक मुद्दों को दर्शकों के सामने रखने में सफल रहे हैं।

दूसरे छोर पर, संत्रास, सामाजिक विद्वेष, रंग भेद, मानव अधिकार तथा महिलाओं के संघर्ष को उजागर करते हुये अनेक वृत्तचित्र तीसरी दुनिया के देशों में प्रमुख जनआंदोलनों का हिस्सा रहे हैं।

अक्सर लोग 'डाक्यूमेन्ट्री' अर्थात् वृत्तचित्र के अभिप्राय को अथवा पारिभाषिक अर्थ को लेकर संशय की स्थिति में होते हैं। दरअसल, वृत्तचित्र का मतलब ऐसे सिनेमा, टी.व्ही. और कार्यक्रमों से है जिसमें कथा कहानी के तत्व न के बराबर हों और अनिवार्यतः जिसमें तथ्यात्मक रूप से वास्तविक जीवन का चित्रण हुआ हो। इसीलिये सिनेमा के एक मोटे विभाजन के अन्तर्गत इसे ''गैर उपन्यास प्रभाग'' यानि ''नॉन फिक्शन श्रेणी'' में रखा जाता है।

वृत्तचित्र कैसे अस्तित्व में आए? वृत्तचित्रों की संरचना और संश्लेषण की प्रक्रिया क्या होती है? इनकी निर्माण कला एवम् विभिन्न तकनीकी पक्षों को समझने के लिए, वृत्तचित्रों के बुनियादी स्वरूप और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है।

तथ्यों पर गौर करें तो यह ज्ञात होता है कि मूलतः सिनेमा विधा की शुरूआत ही वृत्तचित्रों के माध्यम से हुई है। सिनेमा के जनक इंग्लैण्ड के लुईस और अगस्त ल्यूमियर बंधुओं द्वारा बनाई गयी आरंभिक फिल्में - वृत्तचित्रों की ही श्रेणी में आती है। वास्तविक जीवन की झांकी को हू-ब-हू प्रस्तुत करने वाले वृत्तचित्रों का निर्माण बीसवीं सदी के प्रारंभ से ही माना जा सकता है। लगभग हर दशक में सैकड़ों हज़ारों की संख्या में वृत्तचित्रों के निर्माण का विवरण सिनेमा के इतिहास में मिलता है।

यदि ल्यूमिर बंधुओं की शुरूआती फिल्मों का विश्लेषण करें तो वृत्तचित्रों की विषयवस्तु दैनिक जीवन की घटनाओं और सामान्य दृश्यों तक सीमित नज़र आती है।

तकनीकी विकास के साथ-साथ सिनेमा में विषयवस्तु की व्यापकता भी बढ़ती चली गई। जीवन के समूचे परिवृत्त को सिनेमा के कैमरे में क़ैद करने की कोशिशें बढ़ती गई। जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और वृहत से वृहत्तर दृश्यों को समेटकर वृत्तचित्र की परिभाषा को नवीन अर्थ प्रदान किये जाने लगे। अब वृत्तचित्र मात्र यथार्थ का हूबहू चित्रण करने वाले सूचनात्मक कार्यक्रम ही नहीं वरन् दृश्यों से निकलने वाले विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक और संदेश परक माध्यम के रूप में दिखाई देने लगे थे।

वृत्तचित्र के अंग्रेजी पर्याय 'डाक्यूमेंट्री' शब्द का संभवतः प्रथम प्रयोग स्कॉटिश फिल्मकार जॉन गेरीसन ने अपनी एक रिपोर्ट में किया था जो राबर्ट फ्लेहार्ट की फिल्म 'मोयना' के बारे में थी। गेरीसन ने पहली बार डाक्यूमेन्ट्री अर्थात् वृत्तचित्र को कला के बेहतरीन स्वरूप की तरह समझाने का प्रयास किया था।

''वृत्तचित्र निर्माण कला वस्तुतः एक जटिल प्रक्रिया है। इसमें फिल्मकार निर्माण के उपकरणों के माध्यम से सामग्री, रूप और निर्माण रणनीतियों के साथ-साथ रचनात्मक, नीतिपरक, तथ्यात्मक और वास्तविक दृश्यों को उकेरता है।''

फिल्म स्वरूप को कला की एक पृथक विधा की भांति समझने की परम्परा के साथ ही वृत्तचित्र अर्थात् 'डाक्यूमेंट्रीफिल्म' को भी कला रूप की तरह सराहने और समझने की प्रथा शुरू हुई और इसकी शास्त्रीयता का प्रश्न भी उस समय सामने आया था।

''नन्नुक ऑफ द नार्थ'' (सन् 1922) इस वृत्तचित्र को कुछ विद्वान दुनिया का प्रथम वृत्तचित्र मानते हैं यह फिल्म हालांकि मूक फिल्म है और उत्तरी कनाडा में रहने वाले ऐस्किमो तथा उनकी कठिन ज़िदगी पर आधारित है। उस दौर का यह वृत्तचित्र आज भी, अपनी अद्वितीय कलात्मकता के कारण विश्व के अनेक फिल्म प्रशिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रम में प्रमुखता से शामिल हैं। 'क्लासिककल' डाक्यूमेंट्री अर्थात् शास्त्रीय वृत्तचित्रों में प्रमुख रूप से 'किंगकांग' (1933), 'सिम्फनी ऑफ ए विग सिटी' (1927), 'द मेन विद ए मूव्ही कैमरा' (1929), अक्टूबर (1928), 'नाइट मेल' (1932) आदि शामिल हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय बनाई गई डाक्यूमेंट्री फिल्मों का विशेष महत्व है। इतिहास, राजनीति और मानव अधिकारों के साथ-साथ मानवीय संवेदनाओं को समझने में इन वृत्तचित्रों की भूमिका अत्यंत उपयोगी रही है। जर्मन फिल्मकार लेनी रायफिनस्ता का वृत्तचित्र 'ट्रम्फ ऑफ द विल' नाज़ियों के आक्रामक रूख, प्रोपेगैंडा और क्रूरता को प्रगट करती है।

टी.व्ही. के अविष्कार और व्यवसायिक वीडियो तकनीक के आगमन से वृत्तचित्रों का नवीन अध्याय शुरू होता है। प्रसिद्ध फिल्म निर्देशक श्याम बेनेगल कहते हैं कि ''वीडियो के आ जाने के साथ डाक्यूमेंट्री फिल्में (वृत्तचित्र) अपना स्वयं का रूप पा लेंगी बहुत से लोग यह

काम दिलचस्प ढंग से कर रहे हैं। युवा लोग वीडियो के लिए बहुत बेहतरीन फिल्में बनाते रहे हैं।'' वस्तुतः वीडियो तकनीक के आने से वृत्तचित्र निर्माण का एक नया विकल्प सामने आया।

वीडियो अपेक्षाकृत, वृत्तचित्र निर्माण का सस्ता, सुलभ एवम् आसान संसाधन साबित हुआ। नवीन फिल्मकारों ने वीडियो तकनीक की सुगमता का लाभ उठाते हुये इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किये हैं। इसके अलावा, टी.व्ही. प्रसारण के क्षेत्र में विस्तार और सेटेलाइट टी.व्ही. चैनलों की संख्या में अप्रत्याशित बढ़ोत्तरी के कारण वृत्तचित्रों के प्रदर्शन में वृद्धि दर्ज की गई है। बल्कि यह कहना चाहिए कि डाक्यूमेंट्री फिल्मों को एक नया मुकाम मिला है। वृत्तचित्रों के प्रसारण के लिए समर्पित अनेक टी.व्ही. चैनल चौबीस घंटे मात्र वृत्तचित्रों को दिखाने का कार्य कर रहे हैं। डिस्कव्हरी, नेशनल जियोग्राफिक, हिस्ट्री, एनीमल प्लेनेट, व्यास हायर एजुकेशन, डी.डी. भारती, राज्यसभा, लोकसभा आदि चैनलों ने वृत्तचित्रों की महत्ता को स्थापित किया है एवम् इनकी लोकप्रियता को बढ़ाया है। इन टी.व्ही. चैनलों ने वृत्तचित्र निर्माण की एक ऐसी शैली विकसित की है जिसमें ज्ञान, सूचना और मनोरंजन का अनोखा संगम नज़र आता है। प्रयोग, ताज़गी और विषयों की नवीनता इन वृत्तचित्रों की प्रमुख विशेषता है।

आज भारत सहित विश्व के अनेक देशों में वृत्तचित्रों को सराहने और संजोने वाला एक पृथक दर्शक वर्ग तैयार हुआ है। आधुनिक वृत्तचित्र निर्माण में नित नये प्रयोगों का उल्लेख मिलता हैं। इस संदर्भ में मार्टिन कुर्नट और इरिक मेन का उदाहरण प्रासंगिक होगा। इन फिल्मकारों ने 'वाइस ऑफ इराक' फिल्म बनाई थी। इसमें खाड़ी युद्ध की त्रासदी का मार्मिक चित्रण है। इसके छायांकन के लिए उन्होंने लगभग 150 कैमरे ईराक की जनता को भेज दिये थे और उन्हें छायांकन के लिए प्रेरित किया था। बाद में छायांकित टेप्स का संग्रह करते हुये इस प्रसिद्ध वृत्तचित्र का संपादन एवम् निर्माण किया था।

वृत्तचित्र निर्माण का क्षेत्र अपार संभावनाओं और ढ़ेर सारी चुनौतियों से भरा है असीमित प्रयोग और रचनात्मक तेवर इस विधा को अन्य फिल्म श्रेणियों से पृथक और विशिष्ट बनाते हैं। वृत्तचित्रों में वास्तविक जीवन की प्रधानता है, तथ्यों की प्रामाणिकता है, फिल्मकार के दृष्टिकोण का परिचय है और उद्देश्य की प्राथमिकता भी है।

व्यावसायिक सिनेमा के साथ-साथ वृत्तचित्रों का अस्तित्व लम्बे अरसे से विश्व के सभी देशों में रहा है। जिस प्रकार फीचर फिल्मों के कई रूप अपनी संपूर्ण चकाचौंध और आभा के साथ जगत के मनोरंजन उद्योग पर छाये रहे हैं। उसी प्रकार वृत्तचित्रों के अनेक प्रकार अपने सूचनात्मक और ज्ञानमय संस्कार के कारण विश्व के सामाजिक और सांस्कृतिक परिदृश्य का हिस्सा रहे हैं। यथार्थ का दामन थामें, तथ्यों की बागडोर सम्हाले, वृत्तचित्रों ने मानव जाति को दर्पण दिखाने का अति महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। विशेष तौर पर टी.व्ही. माध्यम के प्रसार और सुलभ होने के कारण वृत्तचित्रों को नये सिरे से समझने और सुदूर जन साधारण तक पहुँचने का अवसर मिला है।

इक्कीसवीं सदी में वृत्तचित्रों की स्थिति के बारे में प्रसिद्ध फ्रेंच फिल्म निर्देशक गोडार्ड का कथन यहाँ पर उल्लेखनीय है उन्होंने कहा था कि ''सभी महान फीचर फिल्मों का रुझान वृत्तचित्रों की ओर होगा इसी तरह उत्कृष्ट वृत्तचित्रों का रुझान फीचर फिल्मों की तरफ।'' विश्व सिनेमा और भारतीय सिनेमा में इस प्रकार के कई उदाहरण मौजूद हैं जो 'गोडार्ड' की भविष्यवाणी को सही सिद्ध करते हैं। बेंडिट क्वीन, भगतसिंह, जोधा अकबर, भाग मिल्खा भाग, मेरीकाम, अनगिनित ऐसी फिल्में हैं जो उपर्युक्त कथन को सत्यापित करती हैं।

सिनेमा में अच्छी और सफल पटकथाएँ ज़िदगी की वास्तविकता से ही जन्म लेती हैं। इनमें अनिवार्य रूप से मानवीय संवेदनाओं और गाढ़े अनुभव को महसूस किया जा सकता है। यदि विश्लेषण करें तो पता चलेगा की गैर कथात्मक और कथात्मक सिनेमा में कोई फर्क नही हैं। केवल समय अंतराल का हेर फेर है जो कभी कथा कहानी में था। वास्तव में जो घट गया और जो कभी वास्तविक दुनिया की घटना थी, व्यक्ति था वह कथा के रूप में सामने आ गया। दरअसल, कथात्मक और गैर कथात्मक फिल्मों का पूरक होना ही वृत्तचित्रों के लिये संभावनाओं के अनंत द्वार खोलता है।

निदेशक
ई.एम.एम.आर.सी.
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003
मो. 9826310634

सन्दर्भ -

1. *रे, सत्यजित, 'चलचित्र : कल और आज', राजपाल प्रकाशन दिल्ली, 1992*
2. *चडढ़ा, मनमोहन, 'हिन्दी सिनेमा का इतिहास'*
3. *ओझा, अनुपम, 'भारतीय सिने सिद्धांत', राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, 2002*
4. *बेडली, डब्ल्यू हग, 'द टेकनीक ऑफ डाक्यूमेंट्री प्रोडक्शन' फोकल प्रेस, 1975*
5. *रोलीसन, कार्ल, 'डाक्यूमेंट्रीफिल्म : कॉसेप्ट एण्ड क्रिटिसज्म', आई. यूनीवर्ड, 2007*

विचार की संस्कृति और आचार्य रामचंद्र शुक्ल

—विवेकानन्द उपाध्याय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल को डॉ. ओमप्रकाश सिंह हिंदी का पहला व्यवस्थित आलोचक मानते हैं। हिंदी साहित्य और भाषा को आजादी के आंदोलन और आजादी के बाद के भारत में जो प्रमुखता प्राप्त हुई उसका एक कारण हिंदी आलोचना की व्यवस्थित और मजबूत परंपरा को ही जाता है। अन्यथा साहित्य तो अन्य भारतीय भाषाओं में भी खूब लिखा गया है। लेकिन आलोचना को जो उत्कर्ष हिंदी में प्राप्त हुआ वह अन्य भारतीय भाषाओं में संभव नहीं हुआ। इस दृष्टि से आचार्य रामचंद्र शुक्ल का योगदान ऐतिहासिक है। उन्होंने सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना के साथ निबंध लेखन और अनुवाद के क्षेत्र में भी कार्य किया। उनके साहित्यिक रचना कर्म की शुरूआत भले ही कविता से हुई लेकिन आरंभ में उन्होंने महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय अनुवाद कार्य किया। 'कविता क्या है' नामक निबंध, हिंदी साहित्य का इतिहास, सूर, तुलसी, जायसी पर व्यावहारिक आलोचना, रस मीमांसा जैसी सैद्धांतिक रचना और बुद्धचरित जैसा अनुवाद उनके रचना कर्म की उच्चता और गहराई तथा व्यापकता के प्रमाण हैं। आचार्य शुक्ल अपने जीवन काल में ही किंवदंती बन चुके थे। उनकी साहित्यिक स्थापनाएँ उनके जीवन काल में ही बहस के दायरे में आ गई थीं। एक प्रकार से उनकी स्थापनाओं, मान्यताओं और वर्गीकरण को लेकर पक्ष-विपक्ष में खूब लिखा गया। खुद उपर्युक्त पुस्तक के संपादक ने इस स्थिति की ओर इशारा करते हुए लिखा है, ''एक दौर था जब साहित्यिक दुनिया से आचार्य शुक्ल को खारिज करने की भरपूर कोशिश की गई। ऐसे ही प्रयास का एक हिस्सा था— पत्र-पत्रिकाओं में दबी पड़ी उनकी असंकलित रचनाओं को प्रकाश में न आने देने की कोशिश। आचार्य शुक्ल के लेखन के एक बड़े भाग से हम लगभग सात-दशक तक अपरिचित रहे। ऐसा कम हुआ है कि किसी रचनाकार की परवर्ती रचनाओं से आगामी पीढ़ी इतनी लंबी अवधि तक अपरिचित रही हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रचनाओं के साथ ऐसा हुआ है, इसके अनेक प्रमाण हैं।'' उनके द्वारा संपादित यह पुस्तक शुक्लजी के अध्येताओं के लिए ही नहीं बल्कि आम छात्रों के लिए भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प है। पुस्तक के तीन खंड हैं। पहले खंड में शुक्लजी के बारे में शुक्लजी से जुड़े लोगों के संस्मरणात्मक या जीवनीपरक लेख हैं। इसमें श्यमासुंदर दास, पं. केशवचंद्र शुक्ल, गोकुलचंद्र शुक्ल, चंद्रावती शुक्ल, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन और मुक्ता के लेख हैं। खंड दो में जैनेन्द्र, गुलाबराय, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, अजीत कुमार, बच्चन सिंह,

रामविलास शर्मा, विष्णुकांत शास्त्री, नामवर सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी, शिवकुमार मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी और मैनेजर पांडेय के लेख हैं। तीसरे खंड में खुद शुक्लजी द्वारा विभिन्न विषयों जैसे- भाषा की शक्ति, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, 'ईथर की भँवर' और 'संसार की उत्पत्ति', 'सभ्य संसार का भावी धर्म', 'काम नहीं सुरक्षा कला की मूल प्रेरणा है'। 'शाहआलम' और 'जाति व्यवस्था'। शाहआलम लेख मुगल सम्राट शाहआलम के साथ बंगश पठानों के दुर्व्यवहार तथा मराठों द्वारा शाहआलम की मदद पर केंद्रित है। जाति व्यवस्था शीर्षक लेख अपूर्ण है लेकिन लेकिन इसमें शुक्लजी की जाति की निरर्थकता और नरंकुशता तथा अन्याय सम्बन्धी मान्यताओं का पता चलता है। शुक्लजी की जाति संबंधी मान्यताओं को हम आगे देखेंगे।

पुस्तक घोषित रूप से उन तत्त्वों को रेखांकित करने की कोशिश करती है जिनसे शुक्लजी की वैचारिक परिभूमि निर्मित हुई थी। इस पुस्तक में शुक्लजी के संबंधी, मूर्धन्य आलोचक और खुद शुक्लजी अपने लेखों के माध्यम से आमने- सामने उपस्थित हैं।

पहले खंड में शुक्लजी के जीवन के बारे में सामग्री दी गई है। इसमें उन लोगों के लेख हैं जिन्होंने शुक्ल जी को करीब से देखा था। शिवमंगल सिंह सुमन का आलेख श्रद्धा भाव से भरा है लेकिन बेहद संतुलित और शुक्लजी के रचनात्मक व्यक्तित्व पर बड़े ही सरस ढंग से प्रकाश डालनेवाला है। 'महाकाव्यात्मक औदात्य के आकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल' शीर्षक यह लेख संस्मरणात्मक होने के साथ शुक्ल जी की सर्जनात्मक प्रतिभा और सावधानी का दिलचस्प विवरण देता है। भगवती चरण वर्मा के उपन्यास चित्रलेखा को शुक्लजी ने काशी हिंदू वि.वि. के हिंदी विभाग के पाठ्यक्रम में लगवा दिया था और वे इसे एक समस्यामूलक उपन्यास मानते थे। पर जब भगवती चरण वर्मा उनसे मिलने पहुँचे तो खुद ही उस उपन्यास की ऐतिहासिकता की तारीफ इतिहासकार ईश्वरी प्रसाद के हवाले से करने लगे कि यह उपन्यास गुप्तकाल पर आधारित एक एतिहासिक रचना है। पर, शुक्लजी ने उस उपन्यास के एक पात्र कुमारगिरि का उल्लेख करते हुए पूछा कि पुरी, गिरि, भारती जैसी जैसी श्रेणियों में संन्यासियों का वर्गीकरण आचार्य शंकर के द्वारा गुप्त काल के काफी बाद किया गया। उसके पहले यह नाम संन्यासियों के नाम के साथ नहीं मिलता। भगवतीचरण वर्मा के लिए यह आश्चर्य का विषय था। इसी तरह महादेवी वर्मा की एक कविता जिसमें शेफाली और हरसिंगार का जिक्र है शुक्ल जी ने उसमें भी प्रकृति के निरीक्षण का प्रश्न उठाते हुए महादेवी की चूक की ओर इशारा किया। महादेवी की कविता का वह अंश निम्नांकित है :

आज नयन आते क्यों भर भर
सकुच सजल खिलती शेफाली
मुकुल मौलश्री डाली डाली
हरसिंगार झरते हैं झर झर
आज नयन आते क्यों भर भर

इस कविता पर शुक्ल जी की टिप्पणी यह थी, "....कह देना कि शेफाली और हरसिंगार एक ही हैं और यह भी कि दुनिया में यही तो एक फूल है जो या तो डाल पर दिखता है या धरती पर। कब टपका कोई जान नहीं पाता और जान भी ले तो झर-झर ध्वनि कैसी।" वस्तुतः शुक्लजी साहित्यिक रचनाओं में प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के हिमायती थे और साहित्य में तथ्यात्मक भूल या असंगति उनकी निगाहों में अटक जाती थी। काव्य में रहस्यवाद को लेकर शुक्लजी के मत की आलोचना आज भी की जाती है और उनके जीवन काल में उनके सामने ही की जाती थी। शिवमंगल सिंह सुमन ने प्रसादजी की पुण्य तिथि की अवसर पर आयोजित कार्यक्रम की ऐसी ही एक घटना का हवाला दिया है जिसमें वक्ता शुक्लजी रहस्यवाद संबंधी मान्यताओं का विरोध करने लगे। शुक्लजी ने उस अवसर पर जो वक्तव्य दिया वह रहस्यवाद संबंधी शुक्लजी की मान्यताओं को बहुत असरदार तरीके से स्पष्ट कर देता है। उन्होंने कहा, "मैंने न आज तक कहीं लिखा, न कहा कि भारत में रहस्यवाद नहीं था। भारत में रहस्यवाद था भावनात्मक भी और साधनात्मक भी। तंत्र और हठयोग के अंतर्गत उसका समावेश था। उपनिषदों में तो उसकी प्रतिच्छाया है ही। पर उपनिषद आदि दर्शन के ग्रंथ हैं। उस समय तो धर्म, संप्रदाय, दर्शन, आयुर्वेद आदि सभी शास्त्र पद्य में, श्लोकों में ही लिखे जाते थे। मैंने तो केवल इतना ही कहा है कि भारतीय काव्य में रहस्यवाद नहीं था। काव्य से मेरा तात्पर्य वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सर्जकों की कृतियों से था। क्या यहाँ बैठे विद्वानों में से कोई आदि कवि वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक एक भी पंक्ति रहस्यवाद की दिखला सकते हैं।" सुमन जी ने लिखा कि ऐसा लगा जैसे दो-ढाई घंटे के भाषणों की बलुही दीवार आँधी के एक झोंके से ही ध्वस्त हो गई।

शुक्लजी की साहित्य समझ और इतिहास-दृष्टि पर सबसे ध्वंसात्मक लेख जैनेंद्र का है। जैनेंद्र ने सबसे बड़ा आरोप शुक्लजी के साहित्य के इतिहास पर यह लगाया कि शुक्लजी ने इतिहास जगाया नहीं बल्कि उसे इकट्ठा किया। उनका दूसरा सबसे बड़ा तर्क यह है कि शुक्लजी ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की जो आलोचना की है वह सही नहीं है। पता नहीं जैनेंद्र इतिहास जगाना किसे कहते हैं इसे वे साफ स्पष्ट नहीं करते। दूसरी बात यह कि वे साहित्य के आनंद वाले प्रतिमान को साहित्य के इतिहास पर भी लागू कर देते हैं। एक तो साहित्य का इतिहास कोई साहित्यिक विधा नहीं है। दूसरी बात यह कि शुक्लजी का हिंदी साहित्य का इतिहास परवर्ती लेखकों के हिंदी साहित्य के इतिहास के मुकाबले आज भी ज्यादा सरस है। तमाम जानकारियों और ज्ञान के नए अनुशासनों से संपन्न होने के बावजूद वैसा सरस साहित्य का इतिहास हिंदी में दुबारा नहीं लिखा जा सका। रही बात इतिहास जगाने की तो हिंदी में आलोचना का व्यवस्थित ढाँचा अगर शुक्लजी द्वारा न मिला होता तो हिंदी भाषा और साहित्य को आज भी जो प्रमुखता प्राप्त है वह नहीं होती क्योंकि हिंदी में रचनात्मक लेखन के साथ व्यावहारिक और सैद्धांतिक आलोचना का भी आवश्यक विकास होता रहा। अगर आलोचना कर्म पिछड़ जाता तो हिंदी की साहित्य गतिविधि आज इतनी संपन्न नहीं होती। इसके लिए हिंदी

संसार सदैव ही शुक्लजी का ऋणी रहेगा। वस्तुतः यह हमारे समकालीन विमर्श की बहुत बड़ी विसंगति है कि हम जिस चीज से असहमत होते हैं उसे प्रायः इतिहास के कूड़ेदान में डलवा देने के लिए तत्पर हो जाते हैं। आज हिंदी मे यह अक्सर सुनने को मिलता है कि हम संस्कृत काव्यशास्त्र क्यों पढ़ें? लेकिन पश्चिमी काव्यशास्त्र में अरस्तू और प्लेटो को पढ़ने में हमें कोई बौद्धिक संकट नहीं दिखाई पड़ता। ज्ञान की दुनिया में कोई चिंतन भले ही कितना ही आज अनुपयोगी दिखे पर वह अप्रासंगिक या अर्थहीन व महत्वहीन नहीं होता। शुक्लजी की मान्यताएँ आज भले ही विवाद का विषय हों लेकिन हिंदी में विचार की संस्कृति निर्मित करने में उनका योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और ज्यादा है। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी शुक्लजी का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं, ''शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुखी नीतिमत्ता पर स्थित है। समाजशास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तुन्मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति- विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य- विवेचन भी प्रबंध- कथानक और जीवन सौंदर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं और उनसे होकर बहने वाली काव्यधारा का आकलन हम शुक्लजी में नहीं पाते।'' लेकिन सवाल यह कि शुक्लजी का मूल्यांकन क्या सिर्फ इसी आधार पर करना उचित है कि उन्होंने क्या नहीं किया। यह सवाल तो उनके बाद आने वाले आलोचकों से भी पूछा जा सकता है कि वे खुद तो शुक्लजी कमियों से मुक्त तथा ज्यादा ज्ञानवान थे तो वे शुल्क जी से बेहतर तो छोड़िए उनके जैसी कोई आलोचनात्मक कृति क्यों नहीं प्रस्तुत कर पाये। लेकिन आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का यह कथन इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे न केवल शुक्लजी के विद्यार्थी थे बल्कि बाद में चलकर अपने समय में हिंदी के अग्रणी आलोचक भी थे। शुक्लजी के हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथ की रचना के प्रसंग में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अवश्य ही उल्लेखनीय बात कही है। वे कहते हैं ''पं. रामचंद्र शुक्ल ने जो इतिहास लिखा है, उसे पं. रामचंद्र शुक्ल ही लिख सकते थे, जिन दिनों वह इतिहास लिखा गया था, उन दिनों हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए जैसे सामग्री की आवश्यकता होती है, वैसे उपलब्ध नहीं थी। थोड़े से कवि- वृत्त संग्रह अवश्य वर्तमान थे, परंतु उन्हें इतिहास नहीं कहा सकता।'' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने समस्या पर बिलकुल सही जगह अँगुली रखी है क्योंकि हिंदी में व्यवस्थित आलोचना का जो पहला प्रयास किया वह शुक्लजी ने किया। यद्यपि द्विवेदी जी ने शुक्लजी की साहित्य संबंधी मान्यता की ओर संकेत करते हुए कहा कि वे साहित्य को केवल शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों के निरूपण का शास्त्र ही मानते थे। इसी कारण शुक्लजी ने संत साहित्य के प्रति बहुत सदयता नहीं दिखाई। द्विवेदीजी ने शुक्लजी के काल विभाजन के गुणों की तारीफ करते हुए लिखा है, ''शुक्लजी के काल विभाजन में एक बड़ा भारी गुण यह है कि वह प्रवृत्तियों को स्पष्ट इंगित करते हैं, पर कभी-कभी दूसरी प्रवृत्तियाँ जो थोड़ी कम शक्तिशाली होती हैं, गौण बन जाती है। इतना ही नहीं द्विवेदी जी ने शिवमंगल सिंह सुमन के पूछने पर

कि बंगला में आचार्य शुक्ल की समानता का कौन समीक्षक है तो द्विवेदी ने जवाब दिया, ''सच पूछिए तो बंगाली में संप्रति शुक्लजी की ऊँचाई और गहराई का एक भी समीक्षक नहीं है। .... यद्यपि अन्य भाषाओं के साहित्य की पूर्ण जानकारी के बिना इस संबंध में कुछ कहने का मैं अधिकारी नहीं हूँ, पर जहाँ तक मैं जानता हूँ भारत की किसी भी भाषा में आचार्य शुक्ल सरीखा सम्यक, समालोचक सुलभ नहीं है।'' जो लोग द्विवेदीजी को शुक्लजी के विरोध में खड़ा करने की कोशिश करते हैं उनके लिए उपर्युक्त उद्धरण काफी होगा।

शुक्लजी पर सबसे बड़ा आक्रामक लेख जैनेन्द्र का है। जैनेन्द्र ने शुक्लजी की आलोचना प्रायः उन प्रसंगों में भी की है जिनमें आमतौर पर शुक्लजी को प्रश्नांकित नहीं किया जाता। जैसे जैनेन्द्र ने तुलसी दास की आलोचना के प्रसंग में शुक्लजी को विफल बताने की कोशिश की है। शुक्लजी के हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथ के बारे में उनका मत है, ''हिंदी साहित्य का इतिहास है और उसकी कड़ी हरिश्चंद्र से नहीं, दसियों शताब्दी दूर से मिलती चली आती है इस बात को शुक्लजी से पहले किसी ने जाना भी था तो उसका दान नहीं दिया था। शुक्लजी ने वह दृष्टि प्रस्तुत की। इतिहास और भी लिखे गये हैं, पर वे संकलन से कुछ भी अधिक हैं तो शुक्लजी की दी हुई दृष्टि पर ही आधारित हैं, ब्यौरों में फर्क हो, सामग्री के पेश करने के ढंग में कुछ अंतर हो, लीक वही है। फिर भी कहना होगा कि इतिहास उन्होंने जुटाया है, जगाया नहीं है। अर्थात् सब मिलाकर उनका इतिहास कोई संदेश नहीं देता।'' इसी तरह वे कहते हैं, ''इतिहास शुक्लजी के आगे चित्रवत् नहीं आ सका वह उनके निकट एक फाइल के रूप में था। इस प्रकार का इतिहास भविष्य के लिए मार्ग दर्शक नहीं होता, न कोई विधायक स्फूर्ति दे सकता है। साहित्य का इतिहास संस्कृति का व्यक्त इतिहास है। क्या शुक्लजी को इसकी पहचान थी।'' वस्तुतः वे एक तो साहित्य के इतिहास को साहित्य की एक विधा जैसा मानते हैं। दूसरी बात यह कि वे साहित्य के इतिहास लेखन की जटिलताओं से संभवतः परिचित नहीं लगते क्योंकि जितने सरलीकृत ढंग से जेनेन्द्र ने शुक्लजी के इतिहास को खारिज किया है वह बहुत अर्थपूर्ण नहीं लगता। हो सकता कि कुछ और लोगों को भी लगता हो कि शुक्लजी ने इतिहास को सिर्फ इकट्ठा किया जगाया नहीं। लेकिन अगर शुक्लजी इतिहास न जगाया होता तो हिंदी आलोचना आज जिस वृहत् सांस्कृतिक विमर्श में तब्दील हो चुकी है, वह संभव न होता। आचार्य रामंचद्र शुक्ल केवल साहित्य का आलोचक नहीं थे बल्कि वे अशोक वाजपेयी के शब्दों में भारत एक सार्वजनिक बुद्धिजीवी भी थे। उनकी सार्वजनिक बुद्धिजीविता का विकास और विस्तार परवर्ती हिंदी आलोचना में हुआ है। जैनेन्द्र संभवतः उन सूत्रों को पकड़ नहीं पाए। इसी तरह तुलसी दास के प्रसंग में भी वे शुक्लजी की भूल रेखांकित करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं, ''तुलसी को जो भीतर तक निपट भीगे भक्त थे, शुक्लजी ने नाना बनाव में देख दिखा डाला है। उनको विद्वान माना, नीतिदाता माना, समाज सुधारक, लोक संग्रहक, लोक नेता माना। मैं यह कहना चाहता हूँ कि यह कृपा आलोचक की अकृपा है।'' लेकिन उनकी इस आपत्ति का स्रोत कविता के बारे में उनकी समझ से है जो उनके अगले ही वाक्य में व्यक्त हुई है। वे कहते हैं,

''समझदार आदमी कवि को अपनी समझदारी की नाप- काट में देखने को लाचार हो, पर कवि कर्म समझदारी का कर्म नहीं है, वह तो प्रीति के आवेग द्वारा संभव होता है।'' प्रीति के आवेग से कविता के जन्म का सिद्धांत किसी ठोस जमीन पर आधारित नहीं है। कविता प्रीति का व्यापार मात्र नहीं है वह एक बेहद गंभीर बौद्धिक कर्म है जिसका प्रभाव तत्काल श्रोता या पाठक पर पड़ जाता है। कविताएँ ही हैं जो मंत्र में बदल जाती हैं और सुनने वालों को अपनी अपनी चमक से भीतर तक आलोकित कर जाती हैं। यह कार्य केवल प्रीति के आवेग से ही संभव नहीं है।

आचार्य नामवर सिंह ने शुक्लजी के रीतिकाल संबंधी लेखन के बारे में 'महाजनो येन गतः' शीर्षक लेख में विचार किया है। इसमें उन्होंने शुक्लजी के आलोचक विवेक, प्रज्ञा, रचनात्मकता और नैतिकता की चर्चा रीतिकाल के कवियों के क्रम में की है। साथ ही दिखाया है कि शुक्लजी की आलोचना का वस्तुगत आधार काव्य भाषा है। वे कहते हैं, ''रीति काव्य की समीक्षा के प्रसंग में आचार्य शुक्ल की मर्मग्राहिणी प्रज्ञा का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष सामने आता है और वह है काव्य भाषा संबंधी चिंता।'' लेकिन शुक्लजी की काव्यभाषा संबंधी चिंता को अन्य आलोचकों की काव्यभाषा संबंधी चिंता से अलग कुछ इस प्रकार है। आचार्य नामवर सिंह के शब्दों में, ''अधिकांश कवियों की समीक्षा उनकी भाषा से या तो आरंभ होती है या समाप्त। शायद ही कोई महत्वपूर्ण कवि हो जिसकी भाषा पर शुक्लजी ने टिप्पणी न की हो। तारतमिक तुलना इस भाषा विवेचन की भी विशेषता है।'' शुक्ल जी के शब्दों में रीतिकाल के कवियों की काव्यभाषा की विशेषताएँ कुछ इस प्रकार हैं। जैसे- बड़े कवियों में देव का विशेष गौरव का स्थान है लेकिन कहीं कहीं शब्द व्यय बहुत अधिक और अर्थ अल्प, भूषण की भाषा में ओज है लेकिन अव्यवस्थित है। बिहारी की भाषा चलती होने पर साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है। शुक्लजी ने तुलसी दास की तरह पद्माकर की भाषा में अनेकरूपता की चर्चा की है। रहीम की कविता की लोकप्रियता का वस्तुगत आधर यह है कि उन्हें जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव था। इसी तरह घनानंद की आलोचना के प्रसंग में भी शुक्लजी उनकी भाषा की तारीफ करते हुए कहते हैं कि भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिंदी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ।

आचार्य नामवर सिंह ने शुक्लजी के आलोचनात्मक ग्रंथों की सबसे बड़ी विशेषता बताते हुए तन्मतया का प्रश्न उठाया और कहा है, ''तन्मयता केवल किसी महान काव्य या उपन्यास का ही गुण नहीं है बल्कि एक कालजयी आलोचनात्मककृति भी उसी प्रकार तन्मय करने की क्षमता रखती है। यदि इस कथन की सच्चाई में किसी को संदेह हो तो वह आचार्य शुक्ल की श्रेष्ठ समालोचना-कृतियों को पढ़ ले।''

रामविलास शर्मा का लेख नयी हिंदी कविता और छायावाद शीर्षक से लिखा गया है। रामविलास जी ने इस लेख में शुक्लजी द्वारा रहस्यवाद के विरोध के कारणों की वस्तुगत वैचारिक पहचान स्पष्ट करने की कोशिश की है। वे कहते हैं, ''यद्यपि शुक्लजी गोचर जगत् को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानते हैं, फिर भी काव्य के लिए वह अगोचर ब्रह्म की जरा भी आवश्यकता नहीं

समझते। यही वह वस्तुवाद की भूमि है जहाँ से वे रहस्यवाद या भाववाद के झूठे दावों का खंडन करते हैं।'' आचार्य शिवकुमार मिश्र का लेख भक्तिकाव्य और आचार्य रामचंद्र शुक्ल शुक्लजी के दार्शनिक चिंतन तथा समकालीन चिंताओं को रेखांकित करता है जहाँ शुक्लजी की आलाचना दृष्टि और विश्वदृष्टि निर्मित हुई। वे कहते हैं, ''जाहिरा तौर पर शुक्लजी की जीवन दृष्टि या विश्व दृष्टि मूलतः भाववादी या प्रत्ययवादी है। वे जगत को अव्यक्त या ब्रह्म का व्यक्त रूप मानते हैं, ब्रह्म की आनंद कला की बात करते हैं, अवतारवाद पर उनकी आस्था है, भक्ति भले ही उसका आलंबन ईश्वर का व्यक्त रूप हो, उनके लिए धर्म की रसात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति है। किंतु शुक्लजी यहीं आकर ठहर नहीं जाते अथवा यही उनकी विश्वदृष्टि का निर्णायक बिंदु नहीं है। मूलतः प्रत्ययवादी होते हुए भी व्यवहारतः वे वस्तुवाद के निकट खड़े दिखायी देते हैं अर्थात् एकबार जगत को अव्यक्त का रूप बता चुकने के पश्चात् वे अपने सारे चिंतन को इस व्यक्त जगत तक ही सीमित कर देते हैं।'' शुक्लजी को मनोभूमि का कुछ संकेत उनके खुद का द्वारा जाति व्यवस्था के बारे में लिखे गए लेख के अलावा चंद्रावती शुक्ल द्वारा लिखे गए संस्मरण 'ई मेला घुमनी कहाँ चलीं' में भी मौजूद है। ''जाति-व्यवस्था शीर्षक लेख में शुक्लजी लिखते हैं, ''जाति व्यवस्था के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि इसने मनुष्य का स्तरों और श्रेणियों में रूढ़ विभाजन कर दिया है। ..... क्रमशः प्रत्येक जाति अपने से नीची जाति को तुच्छ समझती है। इस प्रकार हम हतभाग्य अश्पृश्यों और वर्गहीन जाति बहिष्कृतों के विशाल जनसमूह तक नीचे उतरते हैं। ..... इसके अतिरिक्त जाति व्यवस्था ने वर्गीय भावना और वर्गीय अहं का पोषण किया है। इसे यदि समाप्त नहीं किया गया तो भारतीय संस्कृति और शिष्टता, राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति की मृत्यु निश्चित है। हम देखते हैं कि शुक्लजी न केवल जाति व्यवस्था के ईश्वर निर्मित न होने में यकीन करते हैं बल्कि ये इसकी प्रक्रिया तथा इसके खतरनाक परिणामों का भी हवाला देते हैं। इतना ही नहीं ये इसे एक अप्राकृतिक व्यवस्था मानते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाषा शीर्षक अपने लेख में शुक्लजी की भाषा संबंधी मान्यताओं ही नहीं बल्कि उसके स्रोतों को भी स्पष्ट किया है और उनकी आलोचना में स्पष्टता और गहराई का कारण वे शुक्लजी के भाषा संबंधी ज्ञान को ही मानते हैं। वे कहते हैं, ''हिंदी के श्रेठ आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आलोचक बनने की भारी तैयारी की थी। वे हिंदी भाषा की प्रकृति के जानकार भाषाविद् थे। भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य भाषाविद् होते थे। यह आकस्मिक या संयोग नहीं बल्कि आवश्यक था।... हिंदी भाषा के लगभग एक लाख शब्दों का अर्थ लिखने का अर्थ क्या होता है। उन शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ, संदर्भ, प्रयोग, व्यवहार-विधि जानना और बताना। इन्हीं शब्दों से तो साहित्य बनता है।... शुक्लजी की भाषा जो इतनी तथ्य निरूपिणी है, इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण उनका कोशकार होना है। इस दिशा में उनकी तुलना डॉ. रामविलास शर्मा ने डॉ. जानसन से की है।'' शुक्लजी की दृष्टि निर्मित करने में हैकल की विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'रिडिल ऑफ यूनीवर्स' का विशेष हाथ माना जाता है। उन्होंने इस पुस्तक का विश्वप्रपंच नाम से न केवल अनुवाद किया बल्कि उसकी एक लंबी भूमिका भी

लिखी। हैकल ने डार्विन के विकासवाद की मदद से धार्मिक पाखंड, रूढ़िवाद और आतंकवाद का जोरदार खंडन किया था। हिंदी के आधुनिक काल का आरंभिक दौर एक तरह से अनुवाद काल कहा जा सकता है। प्रो. मैनेजर पांडेय ने अनुवाद की द्वंद्वात्मक स्थिति के बारे में लिखा है। ''भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना और प्रसार के साथ ही उपनिवेशवाद ने भारतीयों की चित विजय या दिमागी गुलामी का जो अभियान आरंभ किया था उसका पहला कदम था भारतीय साहित्य का अनुवाद करना।... वे अनुवाद के माध्यम से भारत के आत्मबोध और जगत बोध को, उसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों और रचनाओं को अपनी दृष्टि, भावना तथा समझ के अनुकूल बना रहे थे।... भारतीय नवजागरण के निर्माताओं में से अनेक ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अनुवाद संबंधी अभियान के अभिप्राय को समझते हुए इसके उत्तर की खोज की दिशा में प्रयत्न करना शुरू किया और भारतीय समाज को जगाने के लिए स्वयं अनुवाद का काम आरंभ किया।'' आचार्य रामचंद्र शुक्ल का अनुवाद कार्य भी इसी कड़ी का हिस्सा है। अपने लेख आचार्य रामचंद्र शुक्ल और विकासवाद में प्रो. मैनेजर पांडेय ने अनुवादक शुक्लजी और उनके अनुवादों के चयन तथा मौलिक भूमिकाओं का विश्लेषण किया है। वे कहते हैं, ''आचार्य शुक्ल द्वार हैकल की पुस्तक के अनुवाद का निर्णय एक साहसी निर्णय था, अनेक प्रकार के खतरों से भरा था क्योंकि भारत में धर्म का मकड़जाल कम मजबूत और फैला हुआ न था।... आचार्य शुक्ल केवल अनुवाद की चिंता नहीं कर रहे थे, वे पश्चिम में विकासवाद पर होनेवाली बहसों पर भी ध्यान दे रहे थे।''

जो लोग शुक्लजी की रचनावली नहीं पढ़ना चाहते और शुक्लजी के जीवन, रचना कर्म, उनकी साहित्य, समाज और भाषा संबंधी मान्याओं से परिचित होना चाहते हैं साथ ही विभिन्न आलोचकों की दृष्टि से भी शुक्लजी का मूल्यांकन कराना चाहते हैं, उनके लिए यह एक बेहद पठनीय और मूल्यवान पुस्तक है। इसका संपादन आचार्य शुक्ल ग्रंथावली के संपादक डॉ. ओमप्रकाश सिंह ने बड़े ही जतन से किया है। शुक्लजी ही नहीं हिंदी में विचार की संस्कृति को समझने के लिए यह बहुत हद तक एक संपूर्ण किताब है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)-470003
मो. 9407544839

¨ समीक्षीत पुस्तक -
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : वैचारिक परिभूमि
सं. - डॉ. ओमप्रकाश सिंह
प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली
मूल्य - 550/-

अशोक वाजपेयी और उनका 'समय के पास समय'

—अजय कुमार पटनायक

सन् 1941 में दुर्ग में पैदा हुए, सागर के पास सुरई में पले-बढ़े अशोक वाजपेयी पिछले पचास वर्षों से हिन्दी साहित्य-जगत में सक्रिय रूप से अपनी अलग पहचान बनाये हुए हैं। कई अन्य लोगों की भाँति उनका इस क्षेत्र में आना संयोग मात्र नहीं था, बल्कि सोच-समझकर अपने होश-हवास के साथ वे इस क्षेत्र में आये और जम गये। इसके लिए कुछ हद तक उनके घर की साहित्यिक परम्परा को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। लेकिन अशोक वाजपेयी की पुरानी जिद यह थी कि हिन्दी क्षेत्र में मध्यवर्ग और एलीट का निर्माण करने में कोई कोर-कसर उठा नहीं रखेंगे। छठी कक्षा से ही हस्तलिखित पत्रिका में तुकबन्दी करने के साथ ही अशोक के अन्दर का साहित्यकार लगातार कुलाँचे भरने लगा था। फिर आगे चलकर लक्ष्मीधर आचार्य जैसे शिक्षक के संस्पर्श में अफर साहित्य, कला, संगीत आदि के प्रति उनकी रुचि गहराने लगी।

समय से बाहर, इतिहास से मुक्ति की छटपटाहट, अनन्त की तलाश, बहुलतावाद, साहित्य का स्थायी प्रजातन्त्र, साहित्य को उनके तमाम अन्यों के मुकाबले खड़ा करने की अथक कोशिश, शब्द को बना देने की युक्ति, कविता को कभी कामिनी, कभी घर का रूपक बनाने की जुगत, साहित्य के शृंगार और साहित्य के अभिसार में रहने की जिद, समाज के साहित्य विरोधी कला विरोधी होने की तीव्र भर्त्सना और प्रकटतः वैसी ही युद्धभूमि की कल्पना जो भोपाल के अच्छे दिनों में बनी थी, इत्यादि बातें अशोक को एक करती हैं। अशोक उत्तर-आधुनिकता के असल झटकों से बचने के लिए वही तर्क देते हैं जो उनके रकीब देते हैं और इसलिए बार-बार उनके आखेट बनते हैं। कारण वे उत्तर आधुनिक स्थितियों की शैतानियों को नहीं स्वीकार करते या कहें साहित्य के लिए उन्हें भी खतरा मानते हैं। मगर उनकी थियरी जो आधुनिक हाई कल्चर और बहुलतावाद के उत्तर-आधुनिक स्थितियों के बीच फँसी है, यह बताती है कि वे इस समय के ऐसे बेचैन कवि-चिन्तक हैं जो अपने किए को कम-से-कम अपनी नजरों में बार-बार वैध ठहराने की जरूरत समझता हैं।

'समय से बाहर' यानी 'इतिहास से बाहर' जाने के लिए अशोक जो तर्क बाँधते हैं वे इतिहास की गति की 'अति' के तर्कों के डर हैं जो फ्रैंकफर्ट स्कूल ने बहुत पहले कहे थे और उत्तर-आधुनिक विमर्श के दरवाजे खोजे थे। लगभग उसी तरह 'यह सदी', 'बीसवीं सदी' उनकी न केवल टेक है बल्कि निर्मल की तरह, चिन्ता का प्रिय विषय है। वे जितना सदी के बारे में

सोचते हैं उतना ही इतिहास में आते हैं और कवि और कविता की मजबूरियाँ गिनाते हैं। 'शताब्दी के अन्त के कगार पर कविता' शृंखला की उनकी एकदम ताजी कविताएँ इसका अतिरिक्त प्रमाण कही जा सकती हैं, कभी लुहार, कभी कुम्हार, कभी बढ़ई, कभी कुंजड़ा बन वे हर बार इतिहास की ज्यादतियों को गिनते हैं लेकिन इतिहास के पार या उससे मुक्त, किसी भी समय में नहीं ही जा पाते जबकि उनकी माँग वही है।

अशोक का जनतन्त्र में अटूट विश्वास है और इस वक्त के साहित्यकारों के बीच साहित्य के जनतन्त्र में सबसे ज्यादा उन्हीं का यकीन है। जनतन्त्र में आना समय में ही आना है। हाँ, यह आना इकहरे जनतन्त्र में आना नहीं है। अशोक इसीलिए इस पद के साथ साहित्य की परस्परता शायद सबसे ज्यादा देखते हैं। इस पर उनका अचल भरोसा है। भरोसा इसीलिए है कि यह जनतन्त्र इस सदी में बढ़ा है और इसने ही वह जगह बनायी है कि जिसमें साहित्य का भी अपना एक देश और जनतान्त्रिकता हो सकती है।

अशोक अपने जनतन्त्र में रहते हैं और खूब रहते हैं। यह उनका शायद सबरो उज्ज्वल पहलू है। लेकिन हम इस जनतन्त्र को इतिहास में ले चलें और शब्दार्थ के अनिवार्य सत्ता संघर्ष को इसमें पढ़ें तो ज्ञात हो जायगा कि साहित्य भी, फूकोई विमर्श के बाद, सत्ता का वैसा ही संघर्ष है जैसा राजनीति है। अशोक जो जनतन्त्र चुनते हैं उसे उसकी सत्ताशीलता से मुक्त करने की कोशिश करते हैं।

देह अशोक की कविता में सबसे बड़ा और मौलिक दावा है जो उन्हें नितान्त भौतिकवाद में ले आता है और दूर तक वही उनकी ताकत बनता है। उनकी कविता के अध्ययन का प्रवेश द्वार भी यही है, यहाँ स्त्री देह और उसकी अन्य पुरुष-देह एक राजनीतिक सत्ता है। व्याकुल पुरुष देह अपने अन्य गहन पुरुषवादी विमर्श में मौजूद है लेकिन स्त्री की नई व्याख्या करते हुए और उसे एक हद तक वर्जनोन्मुक्त करते हुए। पुरुष देह की ओर से आनेवाले देह के अन्तर्सम्बन्ध और अन्तर्कलह यहाँ विद्यमान हैं यही समकालीन हिन्दी का सर्वथा मौलिक और साहसी काव्योपक्रम है।

शुरू से ही अशोक 'हाई कल्चर' से बाहर दिखनेवाले समाज को उसकी संस्कृति-विहीनता, उसके प्रति उसकी संवेदनशून्यता को एकदम निष्करुण ढंग से फटकारते हैं। वे काफी पहले से शिकायत करते रहे हैं कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों में पुस्तक एवं साहित्यानुरागी संस्कृति नहीं हैं। लोग किताब पर खर्च ही नहीं करते।

अशोक वाजपेयी को कविता के लिए एक आदर्श समाज चाहिए। बना बनाया। यह उनका यूटोपिया है जो उनके जनतन्त्र को समस्यामूलक बनाता है। उत्तर-आधुनिकता इस तरह उनकी थियरी को लगातार समस्याग्रस्त करती है। वे आधुनिक के 'हाई कल्चर' और 'पोस्टमार्डन' के 'पॉपूलार' दोनों के बीच फँसते हैं। साक्षरता बढ़ेगी तो उनके जनतन्त्र की बहुलार्थता पूरी होगी लेकिन उस अनन्त केन्द्रिकता में उनकी हाई कल्चर महफूज नहीं होगी और हाई में छिपेंगे तो बहुलार्थता जायेगी। हाई में ही रहेंगे तो बहुलार्थता ज्यादा देर न टिकेगी और

कोई 'केनन' उन्हें पकड़ेगा, तत्त्ववाद की ओर धकेलेगा, जहाँ वे बहुलता की जगह किसी बड़े सत्ता-विमर्श में गायब कर दिए जायेंगे सो पलट कर बहुलार्थता में आते हैं और वहाँ भी चैन नहीं पाते। वे इस तरह हिन्दी के हाई कल्चर की संवेदनशील किन्तु बेतरह भटकती रूह से जो समझती है कि इस समय में भी उनकी समस्याएं मेनेजबल हैं। हम जानते हैं कि अनमेलेजेबल है। लेकिन अशोक अपनी जिद के जरिए जब तक इन विरोधी गाँठों को मैनेज करते हैं, हमें इस वक्त का शायद सबसे और अन्तर्विरोधग्रस्त एक अनूठा सांस्कृतिक मॉडल उपलब्ध होता है जो मॉडर्न और पोस्टमॉडर्न की गाँठों में फँसा कुछ देर के लिए आश्वस्त-सा दिखता है। अशोक की यही इन्नोसेंस है जो उन्हें मॉडर्न और पोस्टमॉडर्न के बीच तना हुआ एक सुस्पष्ट और अनिवार्य चिह्न बनाती है। (सुधीश पचौरी)

अशोक वाजपेयी एक ऐसा सृजनशील व्यक्तित्व है जो न केवल पारम्परिक लीक से हटकर सोचता है, बोलता है, महसूस करवाता है; बल्कि काव्य-जगत में तल्लीन रहता है। आलोचक रमेश दवे तो यहाँ तक मानते हैं कि 'यदि उन्हें लिखना है एक शब्द की तरह, तो शब्द के वे तमाम बहुवचन हमें तलाशने होंगे, जो शब्दकोशों और महाकोशों की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। यदि उन्हें ध्वनि के रूप में लिखना है, तो उस समूचे आकाश को चीरना होगा जो ध्वनियों का जनक है। कला, सर्जना, कविता, आलोचना या रचना को लेकर उन पर लिखना अर्थात् अपने आपको हर वाक्य के साथ निरस्त करना है। जैसा कि सुमन सौन्टाग कहती है कि हर रचना अपनी व्याख्या के विरुद्ध होती है या मिशेल फूको कहता है कि मैं जो अभी या इस वक्त हूँ, वह क्षण-भर बाद वही और वैसा ही नहीं हूँ। अपने वहीपन या वैसे को सतत निरस्त करना और अपने हर कोने को न होने में बदलना ही फूको होना है। कुछ ऐसी ही बात अशोक वाजपेयी को लेकर कही जा सकती है कि उन्हें व्यक्ति में या रचना में जो कुछ भी कहा जाएगा, वे वही नहीं होंगे और उनके आज तक के आलोचकों ने उनके 'नहीं होने' को ठीक से देखा ही नहीं, इसलिए वे सदा उनके होने से लड़ते-झगड़ते रहे, मगर उनके न होने के विरुद्ध कभी कोई सर्जनात्मक साहस नहीं जुटा सके। (अशोक वाजपेयी, 'पाठ कुपाठ', पृ. 60)

काव्य-जगत के एक अनन्य चित्रकार होने के साथ-साथ अशोक की सर्जनात्मक दृष्टि के साथ ही समीक्षात्मक दृष्टि का मणि-कांचन संयोग उनके व्यक्तित्व में चार चांद लगा देता है। कविता में भाषा क्या करती है, कविता की अपनी नैतिकता क्या है, कविता की दुनिया और हमारी रोजमर्रे की दुनिया में क्या रिश्ते हैं, शब्द और समय के बीच कितने तरह के तनाव हो सकते हैं, कविता अपने भूगोल और स्थानीयता से कैसे जुड़ती है, कविता और सत्य का क्या सम्बन्ध है, कविता किस हद तक भरोसेमन्द गल्प है - आदि ऐसे मुद्दे हैं जो अशोक वाजपेयी की आलोचना में अनेक कवियों की ठोस और विश्वसनीय व्याख्या से निकलते और रोशन होते चलते हैं। इतना ही नहीं, समाज के विविध पहलुओं के साथ ही उसमें साँस लेती जिन्दगी के तमाम अनछुए प्रसंग को वाणी देने में वे किसी आड़ और अंकुश को नहीं मानते। उन्हें इसकी परवाह नहीं कि उनके शब्द-वाण किसे बिंधे और कहाँ तक आहत करे।

समय के पास समय

'प्रेम, मृत्यु और आसक्ति के कवि अशोक वाजपेयी ने इधर अपनी जिजीविषा का भूगोल एकबारगी बदल दिया है : वे कहेंगे बदला नहीं, सिर्फ उसमें शामिल कुछ ऐसे अहाते रौशन भर कर दिए हैं जो पहले भी थे पर बहुतों को नजर नहीं आते थे। अपनी निजता को छोड़े बिना उनकी कविता की दुनिया अब कुछ अधिक पारदर्शी और सार्वजनिक है, उसमें अब एक नए किस्म की बेचैनी और प्रश्नाकुलता विन्यस्त हो रही है।' हालाँकि, सूक्ष्म दृष्टि और नयापन अशोक जी की अपनी विशेषता है जो वे हर पल नई सोच, नई रोशनी में ही गुजारना चाहते हैं।

समय, इतिहास, सचाई आदि को लेकर बीसवीं शताब्दी के अन्त में जो दृश्य हाशिये पर से दीखता है, उसे अशोक वाजपेयी अपनी कविता के केन्द्र में ले आए हैं। जुड़ाव-उलझाव के कुछ बिल्कुल अछूते प्रसंग उनकी पहली लम्बी कविता में कुम्हार, लुहार, बढ़ई, मछुआरा, कबाड़ी और कुंजड़े जैसे चरित्रों के मर्मकथनों से अपनी पूरी ऐन्द्रियता और चारित्रिकता के साथ प्रगट हुए हैं। स्वभाव के अनुसार नए प्रश्न करते, नई बेचैनी व्यक्त करते अनालोचित प्रसंग पर बात करते अशोक वाजपेयी कविता को फिर एक बार वहाँ ले जाने की कोशिश करते हैं, जहाँ अक्सर किसी की नजर नहीं जाती। अब उनका काव्यदृश्य उनके काव्य-ग्रन्थ 'समय के पास समय' में अपनी सयानी समझ और उदासी से समृद्ध, सयानी आत्मालोचना से आलोकित है, उसमें किसी तरह अपसरण नहीं है - कवि अपनी दुनिया में अपनी सारी अपर्याप्तताओं और निष्ठा के साथ शामिल है।

'समय के पास
अपने लिए ही समय नहीं है
समय के पास सबके लिए समय है।'

'समय के पास समय' शीर्षक कविता में समय को तमाम घेरे से मुक्त सब के लिए एक प्रतीक, एक चेतावनी, एक सतर्क सूचना मानकर कवि समय की इच्छा को ही व्यक्त करता नजर आता है -

'समय चाहता है
जानबूझकर कुछ को अपने घेरे से बाहर छोड़ देना,
कुछ को नजरअन्दाज करना,
कुछ को भूल जाना।'

स्वयं कवि के शब्दों में 'अगर लय, गति और यति, मौन और मुखरता, संकेत और छन्द समय के भी गुण हैं तो समय को स्वभावतः कविता के नजदीक माना जा सकता है। पर कविता समय का प्रतिरोध भी है : वह समय को बेधते हुए उससे पार जाने की आकांक्षा करती है। शायद इसलिए कि उसे पता है कि सच समय में पूरा नहीं समाता : वह समय के पार भी होता है।'

सच पर दावा जितना समय का है उससे कम् कविता का नहीं हो सकता। अगर सच समय रचता है तो उससे स्पर्धा में है : कविता भी सच रचती है। यह आकस्मिक और अकारण नहीं है कि अक्सर कविता अनुसमय नहीं, प्रतिसमय होती है।

समय का इतिहास सम्भव है लेकिन कविता का नहीं, क्योंकि सारी कविता तत्काल है : उसमें से ऐसा कुछ भी नहीं है जो बीत चुका हो। सारी कविता हर समय एक साथ घटती रहती है। कविता इतिहास और समय से बँधती नहीं है हालाँकि दोनों ही उसे अपनी शर्तों पर बँधने के लिए विवश करने की निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं। कविता उनकी अवज्ञा नहीं करती पर सेवा-टहल भी नहीं करती।

कविता अपना रसायन जीवन की वस्तुपरकता से पाती है। जीवन से आशय निरा मानवीय जीवन भर नहीं पर वह भी जो चीजों, प्रकृति, ब्रह्माण्ड आदि का जीवन है। जीवन में असंख्य चीजें, ब्योरे आदि हैं। कविता संसार की इस अद्‌भुत और निरन्तर बढ़ती पदार्थमयता से ही अपने विशिष्ट संयोजन पाती और गढ़ती है।

कवि संसार अपनी तमाम ध्वनियों-अन्तर्ध्वनियों, रातों और छायाओं, मुखरता और मौन के साथ हमारे जाने-पहचाने संसार की ही एक अनुकृति हों या हमें ऐसे सन्देश दे कि हम उन्हें अपने अनुभव में समा कर समझ लें। जो कविता अपने को बेध्य नहीं मानती और अपने सत्व को किसी विचार में पर्यवसित करने की छूट या न्यौता देती हो वह बड़ी कविता नहीं हो सकती। जिसे अपना गन्तव्य पहले से ही पता हो ऐसी कविता अन्ततः किसी मसरफ की नहीं होती : वह हमारे लिए कुछ भी नया नहीं खोज सकती। जो खोजती न हो, भटकती-बिलखती न ही वह भला क्या कविता होगी ? कविता भी ज्ञान का एक प्रकार है : वह जीवन-जगत को जानने, बल्कि अनुभवने का एक तरीका है। अशोक वाजपेयी की कलम से ज्ञान और अनुभव की ऐसी अभिव्यक्ति पाठकों को मिलती है, जो 'अन्यों' से बिल्कुल पृथक् होती हैं। उनकी कविता के लिए कोई निर्दिष्ट स्थान या समय कोई मायने नहीं रखता। वह न तो स्वर्ग में जाती है और न स्वर्ण युग में। बस, कहीं नहीं भागती, यहीं जूझती है। समय या इतिहास का कोई भी घमासान हो, कविता उसके बीचोंबीच रहती है। कविता की काया पर समय की खरोंचे और इतिहास के नखक्षत साफ-साफ नजर आते हैं।

अशोक वाजपेयी के अनुसार हमारे यहाँ कविता को समय से पहचानने के पर्याप्त प्रयत्न हुए हैं, पर समय को कविता से पहचानने का रिवाज नहीं है। जबकि कविता समय की ऐसी पहचान विन्यस्त करती है जो अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं। समय कविता में अपने को ऐसा देख पाता है जैसा कि वह कहीं और नजर नहीं आता, नहीं आ सकता।

कविता समय के अन्दर होती हुई भी बाहर रहने की-सी लगती है। समय के अन्दर और बाहर एक साथ हो पाने के कारण ही वह कविता होती है। 'कविता कभी-कभार इस समय से वह ले आती है जो इस समय के पास नहीं है : कविता समय का विस्तार करती है, उसे

सम्पन्न बनाती है। समय कविता को कई बार ऐसे अर्थ देता है जो उसमें मूलतः नहीं थे। समय कविता को उसका अतिजीवन देता है। कविता पर समय की तहें ऐसे जमती रहती हैं जैसे पत्थर पर ऊपर लगातार पानी बहने से काई। काई पत्थर का हिस्सा नहीं बन पाती लेकिन समय की तहें कविता का अंग बन जाती हैं कुछ इस कदर कि हम उन तहों से अलग कविता को देख नहीं पाते।'

अशोक वाजपेयी कविता लिखते हैं और कभी-कभी समय भी लिख देते हैं। कविता और समय दोनों उनके अनुसार, मनुष्य की निर्मितियाँ हैं। उनके बारे में पूरे यकीन के साथ जितना भी कहें, कम हैं। तभी तो वाजपेयी जी समय की छानबीन अरसे से करते आ रहे हैं। हर बार उनकी छानबीन एक नई परत खुलती है, नया रहस्य प्रत्यक्ष होता है। फिर भी जिजीविषा का अन्त कहाँ ! खोज जारी है। 'शताब्दी के अन्त के कगार पर' से कवि समाज के विभिन्न स्तर से अनुभव लेता है, समय की कसौटी में कसकर उसे अभिव्यक्ति देता है। फिर कभी पोते की पीढ़ी का स्वागत करता है तो कभी उसे युद्ध-गीत सुनाता है। समय के साथ अशोक अपनी अनुभूतियाँ सँजोकर ऐसे पेश करते हैं कि जीवन और जगत के साथ-साथ अपने चिन्तन अथवा वैचारिक स्तर पर भी एक और दिशा उन्मोचित होती हुई महसूस हो रही है।

भाषा और शैली के वे जादुगर लगते हैं। बस, छोटे-छोटे शब्द, छोटे-छोटे संयोजन। सचमुच 'देखन में छोटे लगे घाव करै गम्भीर!' हर शब्द, हर क्षण एक नया चेहरा लेकर प्रत्यक्ष होता है, एक नया अनुभव साथ लाकर उपस्थित होता है।

'तपोवनम', प्लॉट नं. 1032/2402
प्रगति नगर, यूनिट-8, भुवनेश्वर-751003
मो. 09437577001

¨ समीक्षीत पुस्तक -
समय के पास समय
लेखक - अशोक वाजपेयी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य - 250/-

त्रासदी : एक मानवीय संचेतना का बिम्ब

—संजय शर्मा

'त्रासदी' सामाजिक- सांस्कृतिक धरातल पर उपजने वाले अलगाव वैमनस्य, विघटन, और उत्पीड़न को बयान करने वाला दस्तावेज है, जो इस बात से अनुप्राणित है कि ''सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं के मूल में पूँजी और उससे विस्तृत हुई शोषक वर्ग की स्वार्थपरक सोच है।''

ऐतिहासिक संदर्भ से जाति, पूँजी, धर्म आदि के नाम पर सामाजिक दायरों का संकुचन हमारी विकासीय प्रक्रियाओं व प्रतिरूपों को बाधित करने में विनाशक भूमिका निभा रहा है। इन्हीं मुद्दों पर पाठकों की चिंतन प्रक्रियाओं को गहरा देने एवं विषमतामूलक समाज की वास्तविकताओं से रूबरू करता है उपन्यास ''त्रासदी''।

लेखक अभय मौर्या के साम्यवादी चिंतन को यह उपन्यास बखूबी रेखांकित करता है। जो मूलतः सोवियत गणराज्य (पूर्ववर्ती) में उनके प्रवास का प्रतिफलन है।

वहाँ की समाजवादी पृष्ठभूमि और आमूल-चूल परिवर्तन की चेतना से लेखक का प्रभावित होना और उसी के आलोक में अपने समाज के विकास की राहें तलाशना एवं उसके लिए क्षुब्ध होकर कारणों की ऐतिहासिक पड़ताल करने का यक्षीय प्रयास कई जगहों पर प्रभावित करता है। किंतु साथ ही, कई बार यह प्रश्न भी सिर उठाता है कि क्या यही एकमात्र बदलाव का मार्ग है, जिस पर चलकर एक बेहतर कल की परिकल्पना की जा सकती है। सामन्ती व्यवस्था के बरक्स ''रामराज्य'' का क्या यही एक नैसर्गिक रास्ता होगा?

अपनी व्यथा ''त्रासदी'' में लेखक अपने सशक्त पात्रों के गढ़न और उनके व्यक्तित्व के अन्तर्गुंथित पहलुओं को उभारकर अपनी बात सिद्ध करने और सामाजिक आर्थिक स्तर पर युग की बदलती आवश्यकताओं को शिल्पगत करने में सफल साबित होते है।

यह वास्तविकता है कि विषमतामूलक, अमानवीय, जातिवादी सोच और दलित चेतना की अगुवाई करने वाले लोग, बहुसंख्यक एवं प्रभुत्वकारी समाज का प्रतिरोध झेलने पर मजबूर हैं। दरअसल अभिजात्य एवं वर्चस्वशाली (या पूँजीपति वर्ग) वर्ग नहीं चाहता कि 'आधुनिकता' की ओर उन्मुख समाज जातिवाद, और सांस्कृतिक अलगाव से मुक्त होकर स्वालंबन और समानता की बात सोचे!

उपन्यास का पात्र वीरसिंह उसी ताकतवर एवं सत्ताधारी वर्ग का ऐतिहासिक प्रतिनिधि है। जो अपनी सामाजिक-आर्थिक राजनैतिक हैसियत से समाज में वर्षों से चली आ रही 'चौधराहट' को पीढ़ी-दर-पीढ़ी कायम रखना चाहता है। वीरसिंह उस ज़मात का प्रतिनिधित्व करता है जो 'अतीत-वर्तमान-भविष्य' की त्रयी को शाश्वत बनाने के लिए किसी भी हद तक जा सकते हैं और जिसे ये नागवार है कि 'परिवर्तन' इस उत्पीड़नकारी, दमनकारी 'शाश्वतता' को चुनौती दे।

'बदलते वक्त के साथ पुरानी मान्यताएँ भी अपना स्वरूप बदलती हैं'। 'धीरज' इसी बीज मान्यता का उत्साही प्रतिनिधि है जो बदलते वक्त और समतावादी सोच की व्यापकता और अक्षुण्ता के प्रभाव को समझता है।

इस प्रभाव की रोशनी में वह एक साथ कई सकारात्मक पहल कर पाने में सक्षम है। मसलन अपनी माँ को साक्षर बनाने से लेकर जावेद व दलीप की ओर मित्रता का मजबूत हाथ बढ़ाने और कालान्तर में मजदूरों के हित को पुत्रमोह से बढ़कर मानने वाला धीरज आधुनिक युग की सबसे बड़ी आवश्यकता जान पड़ता हैं।

'त्रासदी' भाषा के स्तर पर भी अपनी एक अलग छाप छोड़ता है। भाषा आँचलिक और पात्रों के चरित्रानुकुल भदेशपन लिए हुए है। उपन्यास की भाषिक 'अमानकता' मर्मस्पर्शी है एवं पात्रों के ऐतिहासिक उत्पीड़न एवं सामाजिक यथार्थ को दिखाती है। जो पाठकों को सामाजिक ताने-बाने से परिचित भी कराती है।

उपन्यास की शिल्पगत और कथ्यात्मक शैली लेखक के अनुभवजन्य यथार्थ को परिलक्षित करती है। 'सहानुभूति एवं स्वानुभूति' का द्वन्द्वात्मक अन्तर्सम्बन्ध उपन्यास के माध्यम से लेखक ने बखूबी उकेरा है।

जैसे-जैसे उपन्यास आगे बढ़ता है, आगे बढ़कर कस्बाई परिवेश से पहले शहर और फिर सोवियत रूस तक पहुँचता है, वैसे-वैसे ही लेखक की भाषागत प्रयोगधर्मिता संश्लिष्ट होती जाती है।

चरित्र भाषायी स्तर पर अपनी पहचान एवं व्याख्या स्वयं करते है। जो स्वयं में लेखक की प्रयोगधर्मिता एवं भाषायी संयोजन को प्रमाणित करती है। गाँव की मिट्टी की सौंधी महक और जातिवाद का जहर भाषा के देसीपन में ही उभरकर साक्षात हो पाता है। जो इस उपन्यास की अपरिहार्यता है।

'यूं कौणसा गरंथ सै, जौणसा हिंदुआँ नै हिंदुआँ तै, नफरत करण की सीख देवै सै?'

शब्दों की कसावट और बुनावट का सुनियोजित विन्यास 'त्रासदी' कहानी को कहीं भी बिखरने नहीं देता। साथ ही, समाजवाद एवं समतामूलक विचार के स्तंभ को थामे उपन्यास का प्रमुख पात्र धीरज लेखक की सोच व मंशा को स्पष्ट एवं मूर्त आकार देता है। समाज की भलाई किताबी बातें या राजनैतिक दलों का वितान बन कर न रह जाए- इसकी चिंता है उसे। शायद इसीलिए अंत में वह कहता भी है कि ''क्या हमें, क्रांति के लिए, दमित-दलित और शोषित जनता की मुक्ति के लिए संघर्ष करना चाहिए, आखरी साँस तक लड़ना चाहिए हमें?... बिल्कुल करना चाहिए।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
प्रौढ़, सतत् शिक्षा एवं विस्तार विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9993859678

¨ समीक्षीत पुस्तक -
त्रासदी
लेखक - प्रो. अभय मौर्या
पैराबल इंटरनेशनल, दिल्ली
मूल्य - 450/-

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम

–विनोद रजक

विश्वविद्यालय में भारत सरकार की राजभाषा नीतियों का अनुपालन सुनिश्चित कराने हेतु बनाए गए राजभाषा प्रकोष्ठ में हिन्दी अधिकारी, हिन्दी अनुवादक एवं हिन्दी टंकक पदस्थ हैं। विश्वविद्यालय के राजभाषा प्रकोष्ठ की वर्ष 2014-15 के दौरान प्रमुख गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं :-

कार्यशाला :

विभिन्न विभागों/अनुभागों में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से राजभाषा प्रकोष्ठ प्रत्येक तिमाही में कम से कम एक हिन्दी कार्यशाला का आयोजन करता है। इस वित्तीय वर्ष में दिनांक 06 जून, 2014 को 'प्रायोगिक हिन्दी', दिनांक 12 सितम्बर, 2014 को 'कार्यालयीन पत्र लेखन', दिनांक 31 दिसम्बर, 2014 को 'कार्यालयीन कामकाज में अनुवाद' तथा दिनांक 21 फरवरी, 2015 को 'हिन्दी में टिप्पण और आलेखन' विषयों पर कार्यशालाएँ आयोजित की गईं। इन कार्यशालाओं में विषय प्रवर्त्तक के रूप में वरिष्ठ आलोचक, अनुवादक एवं शिक्षाविद प्रो. रमेश दवे, विश्वविद्यालय की भाषा अध्ययनशाला के अधिष्ठाता प्रो. आनंद प्रकाश त्रिपाठी, अंग्रेजी विभाग के अशोसिएट प्रोफेसर डॉ. बी.आई. गुरु, सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. अनुराग श्रीवास्तव, उपकुलसचिव श्री संतोष सोहगौरा तथा सहायक कुलसचिव श्री सतीश कुमार आदि उपस्थित रहे। इस वर्ष इन कार्यशालाओं के माध्यम से चरणबद्ध तरीके से विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों/अनुभागों में कार्यरत लगभग 14 अनुभाग अधिकारियों, 26 प्रवर श्रेणी लिपिकों एवं 15 अवर श्रेणी लिपिकों को हिन्दी में कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जा चुका है। इन कार्यशालाओं के लिए प्रशिक्षण सामग्री राजभाषा प्रकोष्ठ ही तैयार करता है।

विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति :

राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा समय-समय पर जारी आदेशों/निर्देशों का अनुपालन सुनिश्चित कराने के उद्देश्य से गठित विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति की तिमाही बैठकें आयोजित होती हैं। इस वित्तीय वर्ष में समिति की बैठकें दिनांक 24.04.2014, 17.10.2014 एवं 05.06.2015 को विश्वविद्यालय के प्रशासनिक भवन स्थित समिति कक्ष में आयोजित की गईं। इन बैठकों में कार्यालयीन कामकाज में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से लिए गए निर्णयों पर समुचित कार्रवाई भी की गई।

हिन्दी दिवस समारोह 2014 :

हिन्दी दिवस का आयोजन राजभाषा प्रकोष्ठ की महत्त्वपूर्ण गतिविधियों में से एक है। इस वर्ष राजभाषा के वार्षिक अनुष्ठान हिन्दी दिवस को विशेष उल्लास के साथ मनाया गया। 12 एवं 15 सितम्बर, 2014 को आयोजित इस दो दिवसीय समारोह में हिन्दी टंकण, टिप्पण एवं आलेखन प्रतियोगिता तथा सामान्य हिन्दी ज्ञान एवं निबंध लेखन प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इन प्रतियोगिताओं के विजेताओं को क्रमशः रु. 1500/-, रु. 1000/- एवं रु. 500/- के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार प्रदान किए गए। हिन्दी दिवस के मुख्य कार्यक्रम में वरिष्ठ सिने-समीक्षक एवं लेखक प्रहलाद अग्रवाल, विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति प्रो. आर.एस. कसाना जी उपस्थित थे। कार्यक्रम में न केवल अधिकारियों, शिक्षकों व कर्मचारियों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया बल्कि छात्र-छात्राओं ने भी पूर्ण मनोयोग से कार्यक्रम को सफल बनाने में सहयोग प्रदान किया।

वार्षिक गृह राजभाषा पत्रिका 'भाषा भारती' (**ISSN** 2321-5704) के द्वितीय अंक का प्रकाशन :

विश्वविद्यालय के कर्मचारियों, शिक्षकों एवं अधिकारियों के बीच हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से प्रकाशित की जाने वाली वार्षिक गृह राजभाषा पत्रिका 'भाषा भारती' के दूसरे अंक का प्रकाशन किया गया। इस पत्रिका का विमोचन विश्वविद्यालय के संस्थापक डॉ. हरीसिंह गौर के जन्म दिवस 26 नवम्बर, 2014 पर आयोजित कार्यक्रम में किया गया। इस अवसर पर वरिष्ठ कवि, आलोचक एवं साहित्यकार श्री अशोक वाजपेयी, वरिष्ठ आलोचक प्रो. धनंजय वर्मा एवं वरिष्ठ साहित्यकार प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी एवं विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. एस.पी. व्यास जी समेत अन्य गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

विभागों में हिन्दी संबंधी सॉफ्टवेयर का संस्थापन :

विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले कम्प्यूटरों में राजभाषा प्रकोष्ठ द्वारा तैयार विशेष सीडी द्वारा यूनीकोड फॉण्ट, कृतिदेव फॉण्ट, कृतिदेव-यूनीकोड परिवर्तक, हिन्दी नोटशीट, द्विभाषी पत्रशीर्ष एवं एमएस ऑफिस सॉफ्टवेयर संस्थापित किए गए ताकि कार्यालयीन कामकाज में हिन्दी का प्रयोग करने में आने वाली समस्याओं में कमी आ सके।

अनुवाद कार्य :

विश्वविद्यालय की वार्षिक लेखा रिर्पोट, प्रवेश विवरणिका, वार्षिक प्रतिवेदन में कार्यालयीन प्रतिवेदनों का अनुवाद, वेटिंग एवं द्विभाषीकरण प्रक्रिया में सहयोग। कार्यालय में प्रचलित विभिन्न प्रपत्रों एवं अन्य आवश्यक दस्तावेजों का द्विभाषीकरण किया गया। राजभाषा प्रकोष्ठ राजभाषा अधिनियम 1963 की धारा 3(3) के अनुपालन के लिए भी अनवरत प्रयासरत है।

अन्य कार्य :

1. विशेष प्रदत्त कार्य के रूप में राजभाषा प्रकोष्ठ ने वर्ष 2015 हेतु विश्वविद्यालय के कैलेण्डर, डेस्क कैलेण्डर, डायरी का प्रकाशन क्रय एवं भण्डार अनुभाग के सहयोग से किया।
2. नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति की बैठकों में विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लिया।
3. विश्वविद्यालय के केन्द्रीय कार्यालय के दोनों प्रवेश द्वारों पर 'आज का विचार' तथा 'आज का शब्द' उपलब्ध कराया।
4. हिन्दी के प्रगामी प्रयोग हेतु कर्मचारियों को प्रोत्साहित करने के लिए राजभाषा से संबंधित सूक्तियों/वाक्यों/कथनों को प्रशासनिक भवन में जगह-जगह उपलब्ध कराया।
5. हिन्दी अधिकारी एवं हिन्दी अनुवादक ने मई माह में मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय द्वारा आयोजित राजभाषा की राष्ट्रीय संगोष्ठी में विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया।

हिन्दी टंकक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश-470003
मो. 9806410828

पाठकीय

('भाषा भारती' अंक-दो को लेकर देश भर से ढेर सारे समीक्षात्मक पत्र हमें प्राप्त हुए। सभी को यथावत स्थान देना सम्भव नहीं था। अतः महत्त्वपूर्ण पत्रों के चुनिंदा अंश यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं।)

प्रिय छबिल,

'भाषा भारती' देख गया। बहुत अच्छी सामग्री तुमने इस अंक में जुटाई है। तुम्हारा सम्पादकीय भी समीचीन लगा। प्रेमचन्द का बहुत ही प्रासंगिक और मानकीय लेख तुमने आरम्भ में ही दिया- यह बहुत अच्छा रहा। अन्य लेख भी पठनीय हैं। मेरा लेख ढूँढ़ निकालने और यथास्थान विनिवेशित करने के लिए धन्यवाद। इस बहाने दो-चार विज्ञजनों की निगाह से गुजर जायेगा। लेखों के अलावा अन्य सामग्री भी रुचिकर है। सूझ-बूझ से जुटाई हुई। संस्थापक कुलपति के बारे मे भी पहली बार जानकारी मिली।

श्री कांतिकुमार जैन का 'बैरकों के दिन' पढ़कर मज़ा आ गया। मुझे यह सब पता नहीं था। खुद उनके पते में भी 'मकरोनिया कैंप क्या है? क्यों है? इसका राज़ इस लेख से खुला। सागर विश्वविद्यालय का प्रारम्भ- उसका इतिहास जीवन्त हो उठा है इस संस्मरण से। गज़ब की स्फूर्ति- अंतःस्फूर्त जीवंतता और प्रामाणिकता होती है उनके संस्मरणों में। 'अतीत के चलचित्र' जिसे अक्षरशः कहा जा सके।... ... ... पढ़ी हुई चीज भी किस कदर नई हो जाती है- इसका तीव्र अनुभव 'चिट्ठियों के दिन' पढ़कर हुआ। मैं तो चौंक गया एकबारगी। जबकि मेरे सामने लिखा गया था- मैं ही पहला श्रोता रहा हूँगा। कृतज्ञ हूँ प्रसन्न भी कि तुम्हें यह सूझ आई। चिट्ठी नाम की वस्तु और चिट्ठीकार के भी मर्म को, अंतरंग को आलोकित करने वाली रचना देने की।

—रमेशचंद्र शाह,
वरिष्ठ कवि, आलोचक व चिंतक
भोपाल (म.प्र.)

भाषा, साहित्य और संस्कृति सबकी बहुत-सी उपयोगी और सार्थक सामग्री के प्रकाशन के लिए मेरी बधाई लें। निर्मल वर्मा के पत्रों पर केन्द्रित ज्योत्स्ना मिलन का आलेख और कृष्णा सोबती के उपन्यास 'डार से बिछुड़ी' पर विजय बहादुर सिंह की समीक्षा विशेष रूप से उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

—मधुरेश,
प्रसिद्ध कथा समीक्षक
बदायूँ, उत्तरप्रदेश

विभिन्न केन्द्रीय संस्थाओं के राजभाषा विभागों से हिन्दी में पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, परन्तु मेरे देखने में जितनी आयी हैं, 'भाषा भारती' निस्सन्देह ही उनमें सर्वश्रेष्ठ है। इसकी जितनी प्रशंसा करूँ कम है। यह सिर्फ एक औपचारिकता का निर्वाह मात्र नहीं है, अपितु एक सम्पूर्ण साहित्यिक पत्रिका है जिसमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण और स्तरीय सामग्री संयोजित हैं। जिस लगन और संकल्प के साथ आप लोगों ने इस पत्रिका को निकालना शुरू किया है विश्वास किया जाये कि उसी लगन, संकल्प शक्ति और श्रमनिष्ठा के बूते 'भाषा भारती' के आगामी अंक हिन्दी साहित्य जगत में अपनी एक अलग छाप छोड़ पायेंगे।

–डॉ. हरीश कुमार शर्मा,
हिन्दी विभागाध्यक्ष,
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश

'भाषा भारती' के वैचारिक गाम्भीर्य तथा स्तरीय लेख सुरुचिपूर्ण हैं। विश्वविद्यालय की प्रतिभाओं को एक अच्छा मंच मिल रहा है। इस पत्रिका को साहित्य-संस्कृति तथा तुलनात्मक अध्ययन की श्रेष्ठ पत्रिका बना सकते हैं। साथ ही कोई विशेष संख्या बनाकर विद्वानों के विचारों को (किसी भी विषय पर) एक जगह स्थानित कर सकते हैं।

–प्रो. रवीन्द्रनाथ मिश्र,
हिन्दी भवन,
विश्वभारती, शान्ति निकेतन, पश्चिम बंगाल

'भाषा-भारती' के नवम्बर 2014 का यह अंक सचमुच गाँधी और हिन्दी की प्रासंगिकता को उजागर करता है। ये ही तो दो प्रमुख मुद्दे हैं इस देश के। गाँधी मानवता का प्रतीक है, हिन्दी स्वाभिमान का। शेष सारी आवश्यकताएँ भौतिकता से जुड़ी हुई हैं और पाश्चात्य देशों से अधिक ताल्लुक रखती हैं।... समय के स्वर को पहचानते हुए 'भाषा भारती' के समर्थ संपादक डॉ. छबिल कुमार मेहेर ने भी गाँधी जी के मार्ग पर लौटने का आह्वान किया है, जो पाठकों के हित से जुड़े होने के कारण दिल को छू जाता है। इस मुद्दे का गवाह बनाकर आपने प्रेमचन्द जैसे कालजयी कथाकार को जो पेश किया है, उससे इस मुद्दे की शाश्वतता सिद्ध हो गई– ''मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही बन्धन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है...''

....भाषा समस्या के अतिरिक्त स्वच्छ-भारत अभियान, हिन्दी में सूचना प्रौद्योगिकी, दलित साहित्य, हिन्दी मीडिया, आर.टी.आई. अधिनियम आदि के साथ ही कतिपय सर्जनात्मक रचनाओं से समृद्ध यह अंक दक्ष संपादन की ओर संकेत कर रहा है। साथ ही विश्वविद्यालय

के कुलपति प्रो. एस.पी. व्यास जी की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से ही छबिल जी ने निश्चित रूप से ऊर्जा प्राप्त की है, यह उनके उत्साहमद संदेश से स्पष्ट है, न केवल विद्यार्थी, बल्कि हर प्रकार के पाठकों को बाँधे रखने वाली इस पत्रिका की मैं उत्तरोत्तर उन्नति कामना करता हूँ।

—डॉ. अजय कुमार पटनायक
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
रेवेंशा विश्वविद्यालय, कटक, ओड़िशा

'भाषा भारती' का यह अंक वस्तुतः एक उच्चस्तरीय, पठनीय और संग्रहणीय अंक है। आलेखों का चयन और स्तंभों का व्यवस्थापन दोनो ही प्रशंसनीय हैं। वैसे तो पत्रिका की सम्पूर्ण सामग्री उत्कृष्ट है, किन्तु डॉ. रमेशचंद्र शाह का आलेख 'भारतीय साहित्य को अनुवाद साहित्य की देन' विशेषतः उल्लेखनीय है।

—डॉ. अश्विनीकुमार शुक्ल,
हिन्दी विभाग,
पं. जवाहरलाल नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाँदा, उ.प्र.

'भाषा भारती' के अंकों को पढ़ना मेरे लिए एक सुखद अनुभूति का अहसास कराने जैसा था। कविता, कहानी, संस्मरण, अनुवाद, आलेख के तहत प्रस्तुत सामग्री किसी ऐतिहासिक दस्तावेज से कम नहीं है। पत्रिका को वार्षिक की जगह छमाही होना चाहिए। इतनी अच्छी पत्रिका का एक वर्ष इन्तजार करना कठिन होता है।

—कृष्ण वीर सिंह सिकरवार,
एयरपोर्ट रोड, भोपाल

औचक ही आपके संस्थान से निकलनेवाली पत्रिका 'भाषा भारती' हाथ लग गई। पढ़कर मन अभिभूत हो गया। आमतौर पर हमारा अनुभव यह रहा है सरकारी संस्थानों से राजभाषा के प्रचार-प्रसार के निमित्त निकलनेवाली पत्रिकाएँ एक रसम आयोजन बन कर रह जाती हैं। किन्तु 'भाषा भारती' ने तो सरकारी मकसद को सृजनात्मक तौर पर प्रस्तुत करके एक नयी दिशा और एक नया लक्ष्य स्थापित कर लिया है। बधाई!

—राघव शरण मिश्र
पूर्व उप प्राचार्य
किसान इंटर कॉलेज, बलकुड़िया

●●●